वक्तव्य ।

प्रिय सुज्ञ पुरुषों ! जैन दर्शन में संग्रह नय के मत से जीव और अजीव द्रव्य ये दोनों अनादि अनन्त माने गए हैं। किन्तु साथ ही यह वर्णन कर दिया है कि भव्यात्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त है ।

सो जिन जीवों को मोक्ष के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मिल जाते हैं वे जीव अनुकूल सामग्री के द्वारा आत्म विकास करते हुए अनुक्रम से निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव में निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र ही हैं किंतु इन तीनों का समावेश दो अंकों में किया गया है जैसे कि "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" ज्ञान और क्रिया से ही मोक्षः पद प्राप्त हो सक्ता है ।

सो मुमुक्षु आत्माए सदैव उक्त दोनो पदार्थों के आराधन में लगी रहती है । परन्तु काल की बड़ी विचित्र गति है जो वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता जैसे कि:—इस काल में प्रायः लोगों की रुचि धार्मिक क्रियाओ की ओर दिन प्रति दिन न्यून होती जारही है । यद्यपि इसमें काल दोष भी

ॐ

श्री जैन धर्म शिक्षावली.

सातवाँ भाग.

नमोत्थुणं समणस्स भगवतो महावीरस्स (णं)

प्रश्नः—जीव किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो आयुष्य कर्म के द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्रश्नः—जीव सादि है या अनादि ?

उत्तरः—जीव अनादि है.

प्रश्नः—सादि किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिसकी आदि हो

प्रश्नः—अनादि किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिसकी आदि न हो.

प्रश्न—जब आयुष्य कर्म के क्षय होनेसे जीव की मृत्यु होना सिद्ध है तो फिर जीव अनादि किस प्रकार [illegible]

उत्तरः—आयुष्य कर्म के क्षय होजानेसे शरीर और जीव का जो परस्पर सम्बन्ध है वह [illegible] [illegible] हुआ परन्तु आत्मा का नाश नहीं हुआ क्योंकि [illegible]

उत्तर:—जीव द्रव्य भी षट द्रव्यों में केवल एक ही भेद वाला है परंतु मुख्यतया इसके दो भेद हैं. जैसे कि बद्ध और मुक्त.

प्रश्न—मुक्त जीव के कितने भेद हैं?

उत्तर—मुक्त आत्मा भेदों से रहित है परंतु व्यवहार नय की अपेक्षा से १५ प्रकार के जीव सिद्धगति प्राप्त करते हैं.

प्रश्न—वे १५ भेद कौन २ से हैं?

उत्तर:—एकाग्रता से श्रवण कीजिये.

१ जिनतीर्थ सिद्धा:—जिस समय श्री तीर्थंकर देव अपने धर्मोपदेश द्वारा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चारों तीर्थों की स्थापना करते हैं उस तीर्थ में जो आत्माएं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आयुष्यकर्म, नामकर्म गोत्रकर्म और अंतरायकर्म इन आठों कर्मों का [illegible] [illegible]

२ अजिनतीर्थ सिद्धा [illegible]

[illegible]

३ **तित्थयर सिध्दाः**—तीर्थंकर पद पाकर जो अवि निध्द पद प्राप्त करते हैं उन्हें तीर्थंकरसिध्द कहते हैं क्योंकि यह पद एक विशेष पुन्य के कारन से प्राप्त होता है.

४ **अनियरत्थ सिद्धः**—जो सामान्यकेवली होकर मोक्षारूढ होते हैं. क्योंकि राग और द्वेष के क्षय होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति प्रत्येक जीव कर सकता है किन्तु तीर्थंकर नामकर्म विशेष पुन्य के उदय से प्राप्त होता है. केवलज्ञान प्रत्येक जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनी, और अंतराय कर्म के क्षय करने से प्राप्त कर सकता है.

५ **स्वयंबुध्द सिध्दाः**—किसी के उपदेश के बिना वैराग्य भाव प्राप्त कर दीक्षित होजाना और फिर केवलज्ञान पाकर मोक्ष पद प्राप्त करना इसे स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं

६ **पत्तेय बुध्द सिद्धाः**—किसी एक वस्तु को देखकर जो बोध [illegible] इसको प्रत्येक बुद्ध कहते हैं [illegible] चूड़ियों का शब्द सुनकर बोध को प्राप्त हो[illegible] इस प्रकार अनेक [illegible] ऐसे होगए हैं जो प्रत्येकबुद्ध होकर मोक्षारूढ हुए हैं.

७ **बुद्ध बोहिय सिध्दाः**—जो गुरु के उपदेश के

चाहिये क्योंकि उनके गुणों के आश्रित होकर ही अपने आत्मा में गुण उत्पन्न करलेने चाहिये।

प्रश्नः—इस विषय में कोई दृष्टांत देकर समझाओ ?

उत्तर—जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुष्प पंक्ति की ओर एक दृष्टी लगाकर देखता रहे तथा चन्द्रमा या जल की ओर देखता रहे तब उस आत्मा के चक्षुओं में शांति के परमाणुओं का संचार होजाता है जिसके कारण से उनके चक्षुओं में शांति आजाती है। ठीक उसी प्रकार श्री भगवान का स्मरण करते हुए एकतो आत्मा में शांति का संचार होजाता है, द्वितीय वर्ण विपर्यय करने से आत्म कल्याण होजाता है जैसे कि:- **जिन** ध्यान करते २ जब वर्ण विपर्यय किया गया तब **निज** ध्यान बन जाता है। जब **निज** ध्यान होगया तब **जिन** ध्यान करते समय जो २ गुण जिनेंद्र भगवान के अनुभव द्वारा अनुभव करने में आये थे फिर वे सर्व गुण **निज** आत्मा में आने लग सकते हैं.

प्रश्न — [illegible]

उत्तर — [illegible]

छुपा हुआ है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान शारीरि
और मानसिक दुःखों से रहित हैं ठीक उसी प्रक
मेरा आत्मा भी उक्त गुण धारण करने में समर्थ है
जिस प्रकार सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्व
गुणसे युक्त हैं ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म
क्षय करने से वह उक्त गुण मेरी आत्मा में
उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्नः—आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य कौन २ उपाय हैं?

उत्तरः—जैन सूत्रों में आत्म विशुद्धि करने के लिये मुख्य दो ही उपाय कथन किये गए हैं।

प्रश्नः—उन दोनों उपायों के नाम बतलाइये?

उत्तर—ज्ञान और क्रिया।

प्रश्नः—ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—[illegible]

उत्तरः—प्रिय मित्रवर्य्य । यह कथन स्याद्वाद के सिद्धांत पर अवलम्बित है क्योंकि स्याद्वाद में प्रत्येक पदार्थ सापेक्षिक भाव में रहता है जैसे कि जीव सक्रिय भी है और अक्रिय भी है क्योंकि जैन सूत्रों में जीवक्रिया और अजीवक्रिया इस प्रकार क्रिया के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं, साथ ही यह भी प्रतिपादन कर दिया है कि सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया यह दोनों जीव क्रिया के भेद हैं परन्तु ईर्यापथिकी और समुदान की क्रिया यह दोनों अजीव क्रिया के भेद हैं सो आत्मा सम्यक्त्व क्रिया के द्वारा अजीव क्रिया से रहित होकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है किन्तु जीव क्रिया के अपेक्षा से जीव मोक्ष में भी अक्रियता ही धारण किये रहता है जैसे कि:—जब आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब उस आत्मा के साथ एक उपयोग आत्मा भी रहता है । जो कि क्षायिक सम्यक्त्व के हो जाने से एवं अनन्तज्ञान से व वीर्यान्तराय कर्म के क्षय के कारण से उपयुक्त रहता है वहाँ तब को आत्मता [illegible] [illegible] करता है [illegible] [illegible] [illegible] आत्मा [illegible] [illegible]

भी पदार्थों का प्रकाशक देखा जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मज्ञान भी पदार्थों से उत्पन्न न होने पर भी पदार्थों का प्रकाशक मानाजाता है।

प्रश्नः—ज्ञान नित्य है किम्वा अनित्य ?

उत्तरः—कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है.

प्रश्नः—यह दो बातें किस प्रकार मानी जावें कि ज्ञान नित्य भी है और अनित्य भी है ?

उत्तरः—जैन मत में सर्व पदार्थों का वर्णन स्याद्वाद के आश्रित होकर किया गया है जैसे कि:—आत्मद्रव्य नित्य होनेपर उसका ज्ञानगुण भी नित्य ही माना जा सकता है परंतु जिन पदार्थों का ज्ञान हुआ है वे पदार्थ अनंत पर्याय युक्त हैं अतः उनके पूर्व पर्याय का व्यवच्छेद और उत्तर पर्याय का उत्पाद समय २ पर होता रहता है। जब पदार्थों की इस प्रकार की दशा है तब उनके समान उत्पाद और व्यय नयकी अपेक्षा से ज्ञान गुण में भी नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की संभावना की जासकती है। सो उक्त न्याय से सिद्ध हुआ कि ज्ञानगुण नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिस प्रकार प्राग भाव और प्रध्वंसा भाव का ज्ञान नित्य और अनित्य माना जाता है ठीक उसी

प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये.

प्रश्नः—प्रागभाव किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस पदार्थ का वर्तमान काल में उस आकृति रूप का अभाव हो जैसे मिट्टी में घट। यद्यपि वह घट मृत्तिका रूप में सद्रूप है परंतु वर्तमान में घटाकार में उसका अभाव माना जाता है सो इसी का नाम प्रागभाव है.

प्रश्नः—प्रध्वंसाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब वह घट अपने घटाकार को छोड़कर अन्य रूप को प्राप्त होजाता है अर्थात् फूट जाता है तो इसी का नाम प्रध्वंसाभाव है। जिस प्रकार प्रथम प्रागभाव का ज्ञान सद्रूप है ठीक इसी प्रकार प्रध्वंसाभाव में भी ज्ञान सद्रूप विद्यमान रहता है। परंतु प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का परस्पर सदा विरोध रहता है सो इसी में नित्य पक्ष और अनित्य पक्ष की सम्भावना की जासकती है ।

प्रश्नः—आत्मा अणुरूप है या विभुरूप ?

उत्तर—यदि आत्मा को अणुरूप माना जाय तब इसके रहने का एक स्थान भी शरीर के अन्दर मानना पड़ेगा, तब इस आत्मा का एक स्थान निश्च

होगया है तब उसी स्थान पर ही सुख वा दुख की संभावना की जावेगी, ननु सर्व शरीर पर।

सो यह पक्ष प्रत्यक्ष में विरोध रखता है क्योंकि ऐसा देखने में नहीं आता है कि शरीर के किस नियत स्थान पर ही सुख वा दुःख का अनुभ किया जा सकता हो।

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को अनुरूप मानन युक्ति सगत नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि जि प्रकार दीपक एक स्थान पर ठहरने पर प्रकाश सर्व करता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के विषय में भ मानना चाहिये।

सो यह कथन भी युक्ति शून्य है क्योंकि वा आदि के आघात से दीपक को हानि पहुंच सकती नतु प्रकाश को। इस कथन से तो हमारा प्रथम पक्ष ह सिद्ध होगया जो कि हमने कहा था कि नियत स्था पर ही सुख वा दुख का अनुभव होना चाहिये अतएव अनुरूप जीव मानना युक्तियुक्त नहीं है।

अपितु जिस प्रकार अनुरूप जीव मानने प आपत्ति आती है ठीक उसी प्रकार विभु मानने पर भी दोषापत्ति आजाती है जैसे कि:— जब जीव क विभुरूप माना गया तब सुख वा दुःख का अनुभव

शरीर के अतिरिक्त बाहिर होना चाहिये सो ऐसा नहीं होने से यह पक्ष भी प्रत्यक्ष से विरोध रखता है तथा जब अनंत आत्मा के मानने पर फिर प्रत्येक आत्मा को "विभु" रूप माना जाय तब उन आत्माओं के आत्म प्रदेशों या कर्मों की परस्पर संक्रमता अवश्य होजावगी। जिससे फिर संकर दोष की प्राप्ति सहज में ही होजावगी। अतएव विभुरूप मानना भी युक्ति युक्त नहीं है। तथा जब हम देखते हैं तब बुद्धि आदिका अनुभव शरीर के अंतर ही किया जाता है न तु शरीर से बाहर.

यदि ऐसा कहा जाय कि:- जब किसी वस्तु का अनुभव करना होता है तब एकान्त स्थान या ऊर्ध्व दिशा की ओर ही देखा जाता है इससे स्वतः सिद्ध है कि यदि आत्मा विभुन होता तो फिर एकान्त वा ऊर्ध्व दिशा के देखने की क्या आवश्यकता थी?

सो यह कथन भी युक्ति शून्य ही है क्योंकि [illegible] [illegible] [illegible] फिर एकान्त वा ऊर्ध्व दिशा के देखने की आवश्यकता ही क्या है! क्योंकि आत्मा सर्व [illegible] [illegible] तब ही सन्मुख होना न तु [illegible]

अतएव किसी एकान्त स्थान की तो इसलिये आव-श्यकता पड़ती है कि जिसमें कोलाहल या शब्दों का विशेष संकुल न हो क्योंकि उक्त कारणों से चित्तवृत्ति स्थिर न रहने से कार्य सिद्धि का प्रायः अभाव सा प्रतीत होने लगता है सो उक्त कारणों से विभुरूप भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है।

तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर आत्म का प्रमाण किस प्रकार मानना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जासक्ता है कि यदि हम द्रव्य आत्माके प्रदेश की ओर देखते हैं तब तो वे प्रदेश धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश के यावत्-मात्र प्रदेश हैं तावन्मात्र प्रदेश एक आत्म के प्रतिपादन किये गए हैं।

इस कथन से तो कथंचित् आत्मा विभु भी माना जा सक्ता है। किन्तु आत्म प्रदेश संकोचन और विकास होने के स्वभाव [illegible] शरीर प्रमाणवर्ती प्रतिपादन किया [illegible]

जैसे जिस शरीर में आत्मा व्याप्त होता है तब उस आत्मा के आत्म प्रदेश तावन्मात्र शरीर में ही व्याप्त हो जाते हैं जिसमें सुख वा दुःख का अनुभव करने वाला सर्व [सारा] शरीर देखा जाता है

क्योंकि ज्वरादि के आवेश हो जाने पर शरीर के सर्व अंगोपांग दुःख का अनुभव करते हुए दृष्टि गोचर होते हैं।

अतएव व्यवहार पक्ष में आत्मा मध्यम परिमाणवर्ती मानना युक्ति युक्त सिद्ध होता है।

प्रश्नः—क्या कभी आत्मा लोकाकाश के समान लोक में व्यापक हो जाता है ?

उत्तरः—हां हो सक्ता है।

प्रश्नः—कब ?

उत्तरः—जिस केवली भगवान का आयुष्यकर्म न्यून हो किंतु असातावेदनीय कर्म आयुष्यकर्म की अपेक्षा अधिक होवे तब उस केवली भगवान को केवली-समुद्घात होजाता है जिसके कारण से उनके आत्म प्रदेश शरीर से बाहिर निकलकर सर्व लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार तैल का बिंदु जलोपरि विस्तार पा जाता है ठीक उसी प्रकार आत्म प्रदेश लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। यद्यपि प्रायः असातावेदनीय कर्म के भोगने के लिये ही यह क्रिया होती है तथापि लोकाकाश परिमाण आत्म प्रदेशों का विस्तार हो जाना इस अपेक्षा से आत्मा

आठ समय तक ही रह सकती है क्योंकि फिर वह आत्म प्रदेश स्वशरीर में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। तथापि कथंचित आत्मप्रदेशों के गणना की अपेक्षा से आत्मा विभुत्व भी कहा जा सकता है।

प्रश्नः—जो लोक प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता इस प्रकार मानते हैं तो क्या उनका कथन सत्य नहीं है?

उत्तर—किसी प्रकार से भी उनके कथन से सत्यता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि प्रकृति जड़ता गुण संयुक्त है तो फिर वह कर्ता शुभ अशुभ क्रियाओं का किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? तथा जड़ता गुण वाली प्रकृति की क्रिया का फल पुरुष को मानना यह न्याय संगत नहीं है।

क्योंकि [illegible]

चाहिये। क्योंकि दोनों की समानता परस्पर सम है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि जो उन नव में योगात्मा और कषायात्मा किसी नय की अपेक्षा से कर्ता मानी गई है क्योंकि उनमें भी द्रव्यात्मा का परिणमन माना गया है सो द्रव्यात्मा का परिणमन होने से ही उन आत्माओं की कर्ता संज्ञा हो गई है। क्योंकि मन वचन और काय तथा क्रोध मान माया और लोभ यह द्रव्यात्मा के आश्रित होने से ही इनकी आत्मा संज्ञा बन गई है।

सो सिद्धांत यह निकला कि प्रकृति कर्ता और पुरुष भोक्ता मानना यह पक्ष युक्ति युक्त नहीं है।

द्वितीय पाठ।

आत्मा।

शास्त्रकारों ने आत्मा विषय अनेक प्रकार से वर्णन किया [illegible] क्योंकि आत्मा की सिद्धि हो जाने से ही फिर बद्ध और मोक्ष की सिद्धि की जा सकती [illegible] कारन कि बद्ध और मोक्ष कर्मों की अपेक्षा से आत्मा कथन किया गया परन्तु आत्मा तो एक अजर अमर अविनाशी आदि गुणों के धारने वाला है। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि जब आत्मा

की सिद्धि भली प्रकार से होजावे तब उस समय ही आत्मा को पुण्य और पाप आश्रव और संवर बद्ध और मुक्त इत्यादि विषयों का भली भांति बोध हो सक्ता है ।

यद्यपि प्रत्येक आस्तिक मत ने आत्मा का स्वरूप अपनी इच्छानुसार वर्णन किया है किन्तु वह स्वरूप सर्वदेशीय न होने से यथार्थ आत्मा का बोध नहीं करा सकता है ।

क्योंकि वे लोग स्वयं ही आत्मा विषय में भ्रम युक्त हैं । तो भला फिर वे आत्मा का यथार्थ वर्णन किस प्रकार कर सक्ते हैं । अतएव उन लोगों का आत्मा विषय कथन का संतोष प्रद निश्चित नहीं होता ।

जैसे कि किसीने आत्मा अणुरूप मान लिया है तो फिर दूसरे ने आत्मा को विभुरूप वर्णन कर दिया है, किसी ने अवयवाकार आत्मा स्वीकार किया है। तो फिर किसीने पांच भूतों का समुदायरूप आत्मा मान लिया है ।

इतना ही नहीं किन्तु किसी ने आत्मा को परमेश्वर का अंश माना हुआ है तो किसी ने आत्मा को ब्रह्मरूप मान रखा है

[illegible]

इन मूल गुणों के अतिरिक्त उत्तर गुण अनंत इस आत्मा के प्रतिपादन किये गए हैं।

किंतु जब आत्मा कर्मों से युक्त है तब वे उक्त गुण प्रायः कर्मों के आवरणों से आच्छादित हैं। सो कर्मों की उपाधि भेद से आत्मा एक होने पर भी आत्मद्रव्य आठ प्रकार से वर्णन कियागया है जैसे किः-

१ द्रव्यात्मा, कषायात्मा ३ योगात्मा ४ उपयोगात्मा ५ ज्ञानात्मा, ६ दर्शनात्मा, ७ चारित्रात्मा और ८ वीर्यात्मा। जो निरंतर स्वपर्याय को प्राप्त होता रहता है उसे आत्मा कहते हैं तथा जो निरंतर ज्ञानादि अर्थों में गमन करता रहता है उपयोग लक्षण से युक्त है उसी का नाम आत्मा द्रव्य है।

सो तीन काल में जो अपने द्रव्य की अस्तित्व रखता है किसी काल में भी द्रव्य से अद्रव्य नहीं होता और कषायादि से युक्त है उसीको द्रव्यात्मा कहते हैं।

कारण कि द्रव्य की अपेक्षा से ही आत्मद्रव्य अनादि कहाजाता है क्योंकि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य माना जाता है सो द्रव्य नित्य प्रतिपादन किया गया है। अत एव आत्मद्रव्य भी नित्य ही सिद्ध होगया यद्यपि द्रव्य शब्द का अर्थ द्रव्य से अद्रव्य नहीं हो सकता इसलिये द्रव्यात्मा अनादि प्रतिपादन किया गया है।

जब द्रव्य [illegible] पुद्गल का [illegible] ज्ञान से चार वस्तुओं

में गमन करने लग जाता है तब उस समय द्रव्यात्मा गौण रूप होकर प्रधान कषायात्मा नाम से फिर उसे कहा जाता है।

क्योंकि कषाय संज्ञा क्रोध, मान, माया और लोभ की कथन की गई है जैसे कि यह क्रोधी आत्मा है, यह मानी आत्मा है यह मायी (छल करने वाला) आत्मा है यह लोभी आत्मा है। सो इन चारों नामसे उस समय द्रव्यात्मा उक्त चारों में परिणित हो जाता है। उक्त ही अपेक्षा से फिर उसे कषायात्मा कहा जाता है।

फिर जिस समय द्रव्यात्मा मन, वचन और काय के व्यापार में प्रविष्ट होता है उस समय उस द्रव्यात्मा को योगात्मा कहा जाता है। इसी नय की अपेक्षा से कहाजाता है कि अपनी आत्मा ही वश करना चाहिये। सो यहांपर आत्मा शब्द से मन आदि का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनयोग, वचनयोग और काययोग से द्रव्यात्मा का ही परिणमन हुआ है। इसी कारण से उसे मनःयोग कहते हैं।

सो मनमें चार प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं इसी कारण से मन के भी चार भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि जिस समय मन में सत्य संकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय सत्यमनःयोग कहाजाता है जिस समय मन में असत्य संकल्प उत्पन्न होता है तब उस समय असत्य मनःयोग कहा

जाता है फिर जब सत्य और असत्य इस प्रकार के संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं तब उस समय मिश्रित मनःयोग कहा जाता है। अपितु जब असत्य अमृषा संकल्प उत्पन्न होने लगता है तब उस समय व्यवहार मनःयोग कहा जाता है।

क्योंकि "असत्यामृषा" उसका नाम है जो वास्तव में असत्य हो होवे परंतु व्यवहार पक्ष में उसे असत्य भी न कहा जा सके। जैसे किसी पथिक ने कहा कि यह "ग्राम आगया" सो इस कथन से यह तो भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पथिक ही जा रहा है नतु ग्राम उसके पास आता है। परंतु व्यवहार पक्ष में यह वाक्य कहने में आता ही है कि यह ग्राम आगया है सो इस प्रकार के संकल्पों का नाम "असत्यामृषा" संकल्प कहा जाता है। सो इस प्रकार चार प्रकार के संकल्प मनःयोग के कहे जाते हैं।

जब आत्मा का मन से सम्बन्ध होगया तब उपचारक नय की अपेक्षा से वा परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा से मन को भी आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार आत्मा का मन से सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार वचन और काय के सम्बन्ध विषय में भी जानना चाहिये। क्योंकि मन योग वचनयोग और काययोग केवल आत्मा के सम्बन्ध से ही कहे जाते हैं।

तब द्रव्यात्मा को कषायात्मा भी इस नय की अपेक्षा से कहा जाता है।

सो यह कषाय और योग के सम्बन्ध से द्रव्यात्मा का परिणमन जब कषाय और योग के साथ होता है तब आत्मा की कषयात्मा वा योगात्मा संज्ञा बन जाती है।

तथा आत्मा का चेतना लक्षण और उपयोग युक्त है सो इसी न्याय से उपयुक्त होकर शास्त्रकारने ऐसा प्रतिपादन किया है कि:—

जिस समय आत्मा ज्ञान वा दर्शन के उपयोग से उपयुक्त होता है तब उसी समय उस द्रव्यात्मा की उपयोगात्मा संज्ञा होजाती है।

यद्यपि ऐसा कोई भी समय उपस्थित नहीं होता जब कि आत्मा ज्ञान दर्शन के उपयोग से शून्य होजावे तथापि सामान्य अवबोध दर्शन का नाम है और विशेष अवबोध ज्ञान का नाम है। सो द्रव्यात्मा सदैव-काल ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त रहने से आत्मा की उपयोगात्मा संज्ञा बनगई है।

सो उपयोग युक्त होने से उपयोगात्मा कहा जाता है तथा उपयोगात्मा के कथन करने से ज्ञान दर्शन की सक्रिया सिद्ध की गई है क्योंकि बहुत से आत्मा को मोक्षावस्था में ज्ञान और दर्शन से शून्य मानते हैं सो उनका यह कथन हास्यास्पद है क्योंकि जब मोक्षावस्था को जीव प्राप्त हुआ तब वह अपनी मूल की भी चेतना खो बैठा ?

इससे सिद्ध हुआ कि उक्त मोक्ष से इस आत्माकी सांसारिक अवस्था ही अच्छी थी जिससे यह चेतना युक्त था और सुख वा दुःख का अनुभव करता था।

यदि ऐसा कहाजाय कि " ज्ञाने न ज्ञानी " ज्ञान से ज्ञानी बनता है सो इस कथन से सिद्ध हुआ कि जब ज्ञान का जीव से संयोग हुआ तब ही जीव को ज्ञानी कहागया। सो जब तक आत्मा के साथ ज्ञान का संयोग नहीं हुआथा तब तक आत्मा ज्ञान से शून्य ही मानना पड़ा। अतएव सिद्ध हुआ कि:– ज्ञानगुण आत्मा का नहीं है सो मोक्षावस्था में ज्ञानसे शून्य आत्मा का मानना न्याय संमत है क्योंकि ज्ञानसे श्रेष्ठ वा निकृष्ट पदार्थों का बोध किया जाता है। जब श्रेष्ठ वा निकृष्ट पदार्थों का बोध हुआ तब आत्मा को राग वा द्वेष में फंसना स्वाभाविक ही है।

अतः इस कारण से आत्मा को ज्ञान शून्य मानना युक्ति युक्त है। सो इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि.—

ज्ञान का गुण प्रत्येक दार्शनिक स्वीकार किया है सो गुण द्रव्य के आश्रित रहता है। अब फिर ज्ञानरूप गुण का द्रव्य कौनसा स्वीकार किया जाय ? यदि ऐसा कहा जाय कि –ज्ञान पदार्थों से होता है तो इसका यह समाधान है कि वह ज्ञान किस रूप होता है ? क्योंकि पदार्थ दो हैं जैसे कि

जीव और अजीव । यदि जीव को होता है तब जीव चैतन्यता गुण युक्त सिद्ध हुआ सो चैतन्यता ही ज्ञान का नाम है । सो इस कथन से हमारा पक्ष ही सिद्ध होगया । यदि ऐसा कहा जाय कि:—जड़ पदार्थों को ज्ञान होता है तो यह कथन तो प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है । यदि ऐसा कहा जाय कि जड़ पदार्थों से ज्ञान होता है तबतो वह उक्त प्रश्न ही फिर उपस्थित हो जाता है कि किस पदार्थ को ज्ञान उत्पन्न होता है ?

अतएव सिद्ध हुआ कि आत्मा को ज्ञान युक्त मानना युक्ति युक्त है । सो इसी की अपेक्षा से द्रव्यात्मा जब ज्ञान और दर्शन के उपयोग संयुक्त होजाता है तब उस आत्मा को उपयोगात्मा कहा जाता है ।

तथा उपयोग की अपेक्षा से ही आत्मा को सर्व व्यापक माना जाता है । क्योंकि उपयोग की अपेक्षा से आत्मा लोकालोक को हस्तामलकवत् जानता और देखता है ।

जिस प्रकार सूर्य एक आकाशवर्ती क्षेत्र में होने पर नियमित रूप से भूमि पर प्रकाश करता हुआ ठहरता है । ठीक इसी प्रकार द्रव्यात्मा एक नियमित क्षेत्र मे रहने पर भी उपयोगात्मा द्वारा सर्व व्यापक होजाता है ।

तथा जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य जिस क्षेत्रको अपनी प्रकार

किसी नियमित स्थान पर बैठकर आत्म श्रुति द्वारा उस स्था को भली प्रकार अपने आत्मा द्वारा देख लेता है।

इतना ही नहीं किंतु किसी नय द्वारा उस आत्मा उस स्थान में उपयोगात्मा द्वारा यदि व्यापक भी स्वीक किया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सो जिस प्रकार म ज्ञान द्वारा पदार्थों का अनुभव किया जाता है ठीक उ प्रकार जो परम विशुद्ध और विशद (म) केवल ज्ञान है उ के द्वारा तो फिर कहना ही क्या है !!

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि:—द्रव्यात्मा को ज्ञा और दर्शन तथा उपयोग युक्त मानना युक्तियुक्त सिद्ध होगया परंतु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि "ज्ञान का लक्ष या ज्ञान किसे कहते हैं ?" सो इस प्रश्न का समाधा अगले पाठ में किया जायगा।

तृतीय पाठ.
ज्ञानात्मा.

जिस प्रकार द्रव्यात्मा कषायात्मा योगात्मा और उप योगात्मा का पूर्व पाठ में वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में ज्ञानात्मा का वर्णन किया जाता है।

प्रश्नः—ज्ञान शब्द का अर्थ क्या है ?

होजाता है। सो इसी प्रकार जब ज्ञान को करण साधन माना जायगा तब उसमें भी उक्त ही दोषापत्ति आजायगी। अतएव ज्ञान को करण साधन मानना भी युक्ति युक्त नहीं है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि:—

ज्ञान को करण साधन मानना युक्तियुक्त है क्योंकि शास्त्रमें करण दो प्रकार से माना गया है जैसे कि:- एक बाह्य करण और द्वितीय अंतरंग करण सो जो बाह्य करण होता है वह तो कर्ता की किया की समाप्ति हो जाने पर कर्ता से पृथक हो ही जाता है जैसे परशु को ही मानलो परंतु जो आभ्यन्तरिक करण होता है वह कर्ता की क्रिया में सहायक बनकर भी कर्ता से पृथक नहीं होता। किसी पुरुषने कहा कि "अमुक पदार्थ मैंने अपनी आंखों से देखा है" इस वाक्य में आंखें करण बन गई हैं सो वह आंखें पदार्थ के देखे जाने के पश्चात कर्ता से पृथक नहीं होतीं तथा किसीने यह कहा कि "मैं अमुक वस्तु को मनसे जानता हूं" तो इस कथन में वस्तु के जानने में मन करण बतलाया है परन्तु जब वस्तु का बोध होगया तो फिर कर्ता से मन पृथक भी नहीं होसकता तथा किसीने कहा कि "ज्ञान से आत्मा जाना जाता है" तो इस कथन से आत्मद्रव्य जानने के लिये ज्ञान करण कथन किया गया है सो जब ज्ञान द्वारा आत्मद्रव्य को जान

लिया तो फिर ज्ञान आत्मा से पृथक नहीं होता। जिस प्रकार किसी ने कहा कि " अमुक पुरुष ने कहा कि अमुक शब्द मैंने अपनी कर्णेंद्रिय (कानों द्वारा सुना है)" तो क्या फिर शब्द सुनने के पश्चात वह सुनने वाला आत्मा कर्णेंद्रिय से रहित होजायगा ? कदापि नहीं।

सो उक्त युक्तियों से ज्ञान को करण साधन मानना युक्ति युक्त है तथा इसी प्रकार ज्ञान को अधिकरण मानना भी न्याय संगत है कारण कि ज्ञानसे कोई भी पदार्थ बाहर नहीं है। इस न्याय के आश्रित होकर यह भली भांति से कहा जासक्ता है कि ज्ञान में ही सब पदार्थ ठहरे हुए हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ज्ञानात्मा मानना युक्तियुक्त सिद्ध है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आत्मा ज्ञानरूपही है तो फिर परस्पर बुद्धि आदि की विभिन्नता क्यों है ?

इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है कि ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से ज्ञान रूप में जीवों की विभिन्नता देखी जाती है जैसे कि:—

कोई मंद बुद्धि वाला है और कोई आशु प्रज्ञावाला है इसी प्रश्न के उत्तरोत्तर [illegible] चाहिये क्योंकि असंख्यात आत्मा [illegible] और मुक्त आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं

सो इस कारण से ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद वर्णन किये गये हैं जैसे कि:—मति ज्ञानावरणीय १ श्रुत ज्ञानावरणीय

२ अवधि ज्ञानावरणीय ३ मनःपर्यव [य] ज्ञानावरणीय और केवल ज्ञानावरणीय ५ ।

जब आदि के चार ज्ञान प्रकट होते हैं तब ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम भाव में होता है परंतु जब केवल ज्ञान प्रकट होवे तब ज्ञानावरणीय कर्म सर्वथा क्षय होजाता है क्योंकि चार ज्ञान तो क्षयोपशम भाव में प्रतिपादन किये गए हैं और केवलज्ञान क्षायिक भाव में रहता है ।

जब आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है तब उसी प्रकार का ज्ञान प्रगट होजाता है जैसे कि:—

जब मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगया तब मतिज्ञान प्रकट हो जाता है जैसे कि:—

मतिज्ञान के मुख्य दो भेद कथन किये गए हैं । श्रुत निश्रित और अश्रुत निश्रित । श्रुत निश्रत मतिज्ञान उसका नाम है पदार्थों के विषय को सुनकर जो मति उत्पन्न होती है उसीका नाम श्रुत निश्रित ज्ञान है किन्तु जो बिना सुने किसी विषय को फिर उस विषय पर प्रश्न किये जाने पर शीघ्र ही उस विषय का समाधान कर सके उसी का नाम अश्रुत निश्रित मतिज्ञान है ।

यद्यपि यह ज्ञान इंद्रिय और नोइंद्रिय (मन) के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथापि मति में विशेष उपयोग

देने पर यह ज्ञान विशदरूप से भासमान होने लगजाता है।

इसी कारण से श्रुत निश्रित मतिज्ञान के मुख्यतया चार भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि:—अवग्रह १ ईहा २ अवाय ३ और धारणा ४।

१ अवग्रहः—सामान्य बोध का नाम अवग्रह है जिसके मुख्य दो भेद हैं जैसे कि व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। जब श्रुतेन्द्रिय के साथ अव्यक्त रूप से शब्दादि के परमाणुओं का सम्बन्ध होता है उसीका नाम व्यञ्जनावग्रह है परन्तु जब उस शब्द के द्वारा कुछ अव्यक्त रूप से अर्थ की प्रतीति होने लगे तब अर्थावग्रह होता है। जैसेः—कल्पना करो कोई पुरुष शयन किये हुए है तब उस पुरुष को किसी पुरुष ने प्रति-बोध (जगाया) किया तब वह अव्यक्त रूप शब्द को सुनकर केवल 'हुंकार' ही करता है सो उसी समय का नाम अवग्रह है क्योंकि अवग्रह के समय में केवल सामान्य अवबोध ही रहता है सो वह भी अव्यक्त रूप से।

२ ईहाः—जब अवग्रह के अनन्तर ईहा का समय आता है तब अवग्रह से विशिष्ट अवबोध ईहा का होजाता है जैसे कि "उसी शब्द पर वह फिर विचार करता है कि यह अमुक शब्द है क्योंकि प्रथम तो केवल शब्द को सुनकर उसने केवल "हुंकार" ही किया था। जब उस शब्द पर कुछ "ईहा" मतिज्ञान का प्रभाव पडा तब उसने यह

होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष आत्मा के कर्तापन को देखकर उसे तो अकर्ता स्वीकार करना किंतु जो सर्व प्रमाणों से अकर्ता सिद्ध होता है उसे कर्ता मान लेना जैसे कि ईश्वर जगत् कर्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता उसे तो कर्ता सिद्ध करना परंतु जो आत्मा प्रत्यक्ष में क्रिया-कर्ता सिद्ध है उसे अकर्ता मानना यही मिथ्याश्रुत का लक्षण है।

तथा जिस श्रुत से धर्म और मोक्ष का फल तो उपलब्ध न होवे किंतु अर्थ और काम की सर्वथा सिद्धि की जावे इसका नाम भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि मिथ्याश्रुत से संसार-पक्ष में परिभ्रमण की वृद्धि हो जाती है और सम्यक्श्रुत से आत्मा संसारपक्ष से पार होने का उपाय ढूंढता है।

तथा संसार की सर्व क्रियाएं मतिज्ञान श्रुतज्ञान या मतिअज्ञान या श्रुतअज्ञान के आधार पर चल रही है।

अतएव प्रत्येक आत्मा इस ज्ञान या अज्ञान से संयुक्त है।

[illegible]

[illegible]

करता है। इसीलिये इसे प्रमाण पूर्वक रूपी द्रव्यों के जानने वा देखने वाला अवधिज्ञान कहा जाता है।

परंतु जब मनःपर्यय ज्ञानावर्णीय कर्म क्षयोपशम हो जाता है तब आत्मा को मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस ज्ञान के द्वारा आत्मा मनोगत द्रव्यों के जानने की शक्ति रखता है। अर्थात मनुष्यक्षेत्रवर्ती यावन्मात्र संज्ञी (मनवाले) पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके मनके जो पर्याय हैं उनके जानने की शक्ति इसी ज्ञान को होती है। यद्यपि इस ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार के दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि उनका मुख्य उद्देश सामान्य बोध वा विशेष बोध ही है तथा ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति पदार्थों के स्वरूप को विशद रूप से जानता वा देखता है। यावत् ये चारों ही ज्ञान क्षयोपशम भाव के भावों पर ही अवलंबित है। परंतु जब आत्मा ज्ञानावर्णीय, दर्शनावर्णीय, मोहनीय तथा अन्तराय इन चारों ही कर्मों का क्षय करता है तथा क्षायिक भाव में प्रविष्ट होता है तब इस आत्मा को सब प्रत्यक्ष केवलज्ञान का उदय हो जाता है [illegible] फिर वह केवली आत्मा सब [illegible] जानने और देखने लग जाता है

[illegible] प्रकार से वर्णन किये गए हैं। [illegible] और दूसरे सिद्धत्व की

तो फिर अन्य आत्मा कहांपर स्थिति करेंगे ? अतएव ज्ञा
द्वारा सर्व व्यापक मानना युक्ति संपन्न है । जिस प्रकार सू
मंडल आकाश पर स्थित होनेपर भी अपने परिमित क्षेत्र
प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार अजर अमर आ
लोकाग्र भाग मे स्थित होने पर भी अपने परिमित
अपरिमित क्षेत्र को प्रकाशित कर रहा है ।

वैसेही यह अकायिक होने पर भी रूपी या अरूपी
द्रव्यों के भावों को हस्तामलकवत जानता और देखता है
उक्त कथन से द्रव्यात्मा को ज्ञानात्मा मानना युक्ति युक्त
हुआ अतएव द्रव्यात्मा को हम ज्ञानात्मा भी कह सकते हैं

चतुर्थ पाठ ।

दर्शनात्मा ।

जिस प्रकार नदी को पार करने के लिये नावि
आवश्यकता [illegible] प्रकार पदार्थों के देखने
लिये [illegible] आवश्यकता होती है या जिस प्रकार सु
अनुभव [illegible] आवश्यकता होती
[illegible] प्राप्त करने के लिये ज्ञान की आवश्यक
होती है या जिस प्रकार [illegible] गुरु की भ
की आवश्यकता है [illegible] पदार्थों प्रकाशित करने के लि

सदाचार और सद्प्रतिभा की आवश्यकता है ठीक उसी प्रकार संसारचक्र से पार होने के लिये दर्शन [विश्वास] की आवश्यकता है।

कारण कि जब सांसारिक कार्य भी विना विश्वास सम्यग्-तया नहीं किये जा सकते तो भला फिर मोक्ष की साधन वाली क्रियाएं विना दृढ विश्वास के कैसे की जासकती हैं !

अतएव सिद्ध हुआ कि धर्म क्रियाओं के करते समय विश्वास की अत्यंत आवश्यकता है। क्योंकि जब आत्मा किसी निर्णीत पदार्थ पर पूर्ण दृढता धारण कर लेता है तब वह उसकी प्राप्ति के लिये सर्व प्रकार से उद्योग करने में प्रयत्नशील बन जाता है।

जैसे कि कल्पना करो कि जब आत्मतत्व का निर्णय हो गया तब वह उसके कर्मों के बंधन से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील होता है क्योंकि उसका प्रयत्न केवल आत्म शुद्धि करने का ही होता है जिसका अन्तिम परिणाम निर्वाण पद की प्राप्ति होना है अतःसिद्ध हुआ कि बिना निश्चय वा बिना विश्वास किये किसी भी अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब विश्वास पर ही फल की निर्भरता है तो फिर वालु में जल बुद्धि रखने

हो या पाखंडोत्सव सबको एक समान ही जानना उसी का नाम मिश्रित विश्वास है। इस विश्वास के द्वारा प्राणी अपने कल्याण करने में असमर्थ होता है तथा न्याय करने में भी इस प्रकृति वाला आत्मा अपनी अयोग्यता सिद्ध करता है कारण कि वह सबको एक समान ही जानता है। अतएव सम्यग् दर्शन प्रत्येक मुमुक्षु आत्माओं को धारण करलेने चाहिये।

जिस प्रकार संक्षेप रूप से उक्त तीनों दर्शनों का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार सामान्य अवबोध की अपेक्षा से चार दर्शनों का विस्तार निम्न प्रकार से किया गया है। जैसे कि:—

१ **चक्षुदर्शन**—जब आंखों से किसी पदार्थ को देखा जाता है तब प्रथम सामान्य अवबोध होता है जैसे कि क्या यह अमुक पदार्थ है ?

इस प्रकार से जो पदार्थों के देखने से बोध पैदा होता है उसी का नाम चक्षुदर्शन है।

दर्शन इस लिये कहा गया है कि जब सामान्य बोध होगया, तदनु फिर उसी पदार्थ का विशेष बोध हो जाता है। फिर उसी पदार्थ का ज्ञान द्वारा निर्णीत किये जाने पर विशेष

जिन आत्माओंने सदाचार से मुख मोड़लिया है वे नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं।

कारण कि सदाचार के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक माना जाता है क्योंकि वह अपने जीवन का सर्वस्व खो बैठता है। जिस प्रकार तिलों से तेल के निकल जाने पर शेष खली रह जाती है तथा दधि से माखन (नवनीत) के निकल जाने पर फिर तुच्छ रूप तक छास (छा) रह जाती है वा इक्षु रस के निकल जाने पर फिर इक्षु का तुच्छ फोक रह जाता है वा उदन (चावलों के निकल जाने पर फिर केवल तुष रह जाता है ठीक इसी प्रकार सदाचार के न रहने से फिर जीवन भी निरर्थक रह जाता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सदाचार किसे कहते हैं [illegible]

[illegible] जैसे कि —

वें अपमृत्यु, रोग और शोकादि संयुक्त सदैव रहा करते हैं। उनके शरीर की कांति या आत्मबल सर्वथा निर्बल पड़ जाता है । अतएव अपने कल्याण के लिये इस व्रत के आश्रित होकर अपने अभीष्ट की सिद्धि करनी चाहिये क्योंकि यावन्मात्र स्वाध्याय या ध्यानादि तप हैं वे सब इस की स्थिरता में ही स्थिर या कार्य साधक बन सकते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मचर्य अवश्यमेव धारण करना चाहिये ।

सर्व प्रकार से परिग्रह का परित्याग करना:—धर्मोपकरण को छोड़कर और किसी प्रकार का भी संचय न करना तथा संसार में यावन्मात्र क्लेश उत्पन्न हो रहे हैं उनमें प्रायः मुख्य कारण परिग्रह का ही होता है क्योंकि ये सब धनादि क्लेश के कारणी भूत कथन किये गए हैं। इसके कारण से सम्बन्धियों का सम्बन्ध छूट जाता है परस्पर मृत्यु के कारण से विशेष दुःखों का अनुभव करते हैं अतएव महर्षि परिग्रह के बंधन से सर्वथा विमुक्त रहे ।

सर्व प्रकार से रात्रि भोजन का परित्याग करना:— जीव रक्षा के लिये या आत्म समाधि या तप कर्म के लिये रात्रि भोजन भी न करना चाहिये । कारण कि प्रथम तो रात्रि [illegible] प्रथम व्रत [illegible] सर्वथा पालन हो ही नहीं सकता [illegible] क्रियाओं के करने समय [illegible] प्रकार का विघ्न उपस्थित कर देता है

यथा लौकिक में यावन्मात्र शुभ कृत्य माने जाते हैं वे भी रात्रि को नहीं किये जाते जैसे श्राद्धादि कृत्य । अतएव रात्रि भोजन से सदैव काल निवृत्ति करनी चाहिये ।

परन्तु अपना पवित्र समय ज्ञान या ध्यान में ही व्यतीत करना चाहिये. क्योंकि शुभध्यान द्वारा अनंत जन्मों के संचय किये हुए कर्म अत्यंत स्वल्प काल में ही क्षय किये जा सके हैं ।

सर्व प्रसिद्ध धर्म मे सर्व प्रकार की क्रियाओं का निषेध किया जाता है । जिससे शीघ्र ही मोक्ष उपलब्ध हो जाता है । इस प्रकार की क्रियाओं के करने से हमें चारित्रात्मा कहाजाता है क्योंकि यह व्यवहारिक में भी सु-प्रसिद्ध है कि अमुक सदाचारी आत्मा है और कदाचारी (दुराचारी) आत्मा है ।

जब सर्ववृत्ति का कथन किया गया है तो इस स्थल [illegible] है कि देशवृत्ति का भी कथन [illegible]

[illegible] किया गया है [illegible] है [illegible]

चाहिये जैसे कि:—आहार १ आचार २ और व्यवहार ३ जिनका संक्षेप से नीचे वर्णन किया जाता है।

१ आहार शुद्धि:—सद्‌गृहस्थ को योग्य है कि वह अपने आहार में विशेषतया सावधानी रक्खें क्योंकि आहार के सूक्ष्म परमाणु रस रूप परिणत होते हुए पाँचों इंद्रियाँ जैसे कि श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय तथा मन, वचन काया वा श्वासोश्वास वा आयुकर्म पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि सतोगुणी भोजन किया गया है तब उक्त प्राणों को वे परमाणु शान्त रस के प्रदान करने वाले बनजाते हैं। जिस प्रकार उष्णता से पीडित पुरुष ने जब स्नान कर लिया तब जल के परमाणु उसको शांत रस प्रदान करने वाले बनजाते हैं। यदि उसने अपनी उष्ण ही दशा में मदिरा पान भी कर लिया तब वे परमाणु तमोगुण के उत्पादन करने वाले बन जाते हैं जिससे किसी २ समय [illegible] किया [illegible] पुरुष का [illegible] [illegible] किया गया १० [illegible] है

[illegible] बड़ा सावधानी से [illegible] [illegible] वा रजोगुणी [illegible] करना चाहिये

[illegible] वा तमोगुणी भोजन [illegible] भाव का

रजोगुणी आदि भोजन करने का फल भी रस विकार होने से सुख-प्रद नहीं होता।

अतएव सद्गृहस्थों को उक्त प्रकार के भोजनों से सदैव बचना चाहिये और साथ ही जो मादक द्रव्य हैं उनका भी सेवन न करना चाहिये जैसे कि मदिरा-पान, अफीम, भांग, चरस, सुल्फा, गांजा, तमाखू, सिगरेट इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि में विप्लव पैदा होता है और सदाचार की दशा बिगड़ती हो तो इस प्रकार के पदार्थों को कदापि सेवन न करने चाहियें।

२ आचार शुद्धिः—जब आहार की शुद्धि भली प्रकार से होजाए तो फिर आचरण की शुद्धि भी भली प्रकार की जासकती है जैसे कि:—आचरण शुद्धि में प्रथम सात व्यसनों का परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि उनके सेवन से प्राय: कष्ट और धर्म से पराङ्मुख होना पड़ता है। जिस प्रकार [illegible] से [illegible] का [illegible] किया हुआ कभी भी सुख-प्रद नहीं [illegible] ठीक [illegible] प्रकार [illegible] सेवन किये हुए सुखप्रद नहीं [illegible]

* [illegible] किया हुआ शीघ्र [illegible] तथा सदाचार [illegible] का सुद [illegible] न करें।

सो जिस प्रकार अधिक वर्षा या बाढ़ के कारण से खे
दुःखों से पीड़ित होजाते हैं ठीक उसी प्रकार सट्टा आदि
व्यापार में लक्ष्मी की वृद्धि की यही दशा होती है।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि खेत में पड़ी हुई बूं
के समान थोड़ा भी व्यापार लक्ष्मी की वृद्धि कर देता
किंतु बाढ़ के समान कार्य करनेवाले सट्टादि के द्वारा लक्ष्
की वृद्धि की इच्छा कभी भी न करनी चाहिये।

क्योंकि उनकी वृद्धि का फल उक्त दृष्टांत द्वारा विच
सकेहैं। तथा इस बात को भली प्रकार विचार सके हैं कि
जब आचार शुद्धि भली प्रकार से हो जायगी तब फि
व्यवहार (व्यापार) शुद्धि भी की जासकेगी।

क्योंकि व्यापार शुद्धि के मूल कारणीभूत आहार शु
या आचार शुद्धि कथन की गई है:—

व्यापार-शुद्धिः—व्यापार-शुद्धि का सम्बन्ध प्रथम दोनों
शुद्धियों के साथ है और उक्त दोनों शुद्धियों का संबंध व्यापार
शुद्धि के साथ है। अतः इन तीनों का परस्पर आश्रय सम्बन्ध
है सो जिस व्यापार से मनुष्य कर्मों का बंध पड़ता हो और
वह व्यापार अनार्य भावों की सीमा तक पहुंचता हो वह
व्यापार मनुष्य को कदापि न करना चाहिये।

क्योंकि जब यह शरीर ही क्षण विनश्वर है तो भला
फिर क्या इसकी रक्षा के लिये अयोग्य व्यापार द्वारा इसकी
पोषणा की जाय?

है तब यह पहिले ही डावांडोल होने लग जाता है किंतु ज
यह बुझने लगता है तब बुझने से पहिले एक बार तो प्र
भली प्रकार कर देता है तदनु शांत होजाता है।

ठीक इसी प्रकार जो लक्ष्मी अन्याय से उत्पादन की
जाती है उसका भी प्रकाश तद्वत् ही जानना चाहिये।

अतएव अन्यायसे लक्ष्मी कभी भी उत्पादन न कर
चाहिये। जब यह आत्मा उक्त तीनों शुद्धियों से विभूषित
जायगा तब वह लौकिक पक्ष में सदाचारी कहलाने
जायगा।

इसी कारण से द्रव्यात्मा को चारित्रात्मा भी क
जाता है क्योंकि आत्मा के आत्म प्रदेश जब सम्यग्चारि
में प्रविष्ट होजाते हैं तब वह आत्मा चारित्रात्मा बन जा
है [illegible] में प्रविष्ट होते हैं तब
[illegible] कहाजाता है।

[illegible] सिद्धांत यह [illegible] मे द्रव्या
[illegible]

पाठ छट्ठा।

बलवीर्यात्मा।

जिस प्रकार पूर्व पाठ में चारित्रात्मा का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार इस पाठ में बलवीर्यात्मा का वर्णन किया जाता है क्योंकि ध्यान रहे कि आत्मद्रव्य के मुख्य उपयोग और वीर्य लक्षण ही शास्त्रकारोंने प्रतिपादन किये हैं।

जो बलवीर्यात्मा का आत्मभूत लक्षण है इसीने योगादि की प्रवृत्ति सिद्ध होती है और इसीसे आत्मा सक्रिय माना जाता है। अंतरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से इसका विकास होता है। फिर इसकी प्रवृत्ति योगों द्वारा प्रत्यक्ष देखने में आती है तथा ज्ञानादि में उपयोगशक्ति का व्यवहार करना भी इसीका काम है।

[illegible]

[illegible]

संसारी यावन्मात्र कार्य हो रहे हैं वे सर्व इसी आत्मा के बल से हो रहे हैं। इसी प्रकार यावन्मात्र धार्मिक क्रियाएं होरही हैं वे भी इसी आत्मा के आधार पर होरही हैं।

इसी कारण से तीन प्रकार से बलवीर्य कथन किया गया है। जैसे कि:—

१ पंडित वीर्यः—जिन क्रियाओं के करने से कर्म मल दूर होजावे और आत्मिक गुण प्रकट होजावें उसी को पंडितवीर्य कहते हैं।

जिस प्रकार क्षार और जल से कोई पुरुष मलयुक्त वस्त्र को धो रहा हो तब उसकी क्रिया का अंतिम फल यह निकलता है कि उस वस्त्र से मल पृथक होकर वस्त्र पवित्रता और शुद्धता को धारण करलेता है। तथा जिस प्रकार अग्नि द्वारा सुवर्ण शुद्ध किया जाता है वा अन्य क्रियाओं द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थ शुद्ध किये जाते हैं ठीक उसी प्रकार आत्मा को कर्म से [illegible] तब संयम तथा [illegible] पुरुषार्थ का [illegible]

[illegible] बालवीर्य [illegible] द्वारा आत्मा [illegible] मूढ़, पापी, [illegible] हो [illegible]

मुनिवृत्ति तो नहीं कही जाती तथापि उसकी संसार में रहते हुए भी सर्वथा असंमय वृत्ति भी नहीं है अतः उसके परिश्रम का नाम "बाल पंडित वीर्य" है। क्योंकि जिस प्रकार वह सांसारिक कार्यों में भाग लेरहा है यदि उसमें अधिक उसके तुल्य नहीं तो कमही सही कुछ भाग धार्मिक कार्यों में भी ले ही रहा है। इसी कारण से श्री भगवान् ने भी उस गृहस्थ को सुदर्शन आमणा प्रतिपादन की है।

श्रावक के द्वादश व्रत वा ११ उपासक की प्रतिमाएं इत्यादि नियमों को यथाशक्ति पालन किये जारहा है।

इसी वास्ते उसके परिश्रम का नाम बालपंडितवीर्य है। उक्त कथन से यह स्वतः ही सिद्ध होगया कि द्रव्यात्मा का नाम बलवीर्यात्मा युक्ति युक्त है।

जिस प्रकार उपाधि भेद से आत्मद्रव्य के आठ भेद वर्णन किये गये हैं, ठीक उसी प्रकार कर्मों की अपेक्षा से और जीव का पारिणामिक भाव होने से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षयोपशमिक, और पारिणामिक भाव भी जीव द्रव्य के कथन किये गए हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त भावों का जीव द्रव्य के साथ क्या सम्बन्ध है और ये भाव जीव के किस प्रकार सम्बन्धी कहे जाते हैं? प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जीव का किसी न

की अपेक्षा से पारिणामिक स्वभाव होने से वह उन भावों में परिणत होता रहता है।

जिस प्रकार घृत जिस वर्ण या गंधादि में प्रविष्ट होजाय फिर वह उसी वर्णादि के रूप को धारण करने वाला बन जाता है। तथा जिस प्रकार निर्मल दर्पण में जिस रंग का डोरा (सूत) दिखाया जाता है फिर उस दर्पण में उसी रंग का चित्र आ पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य भी कर्मों की संगति से जिस प्रकार के कर्मों का उदय होता है प्रायः उसी प्रकार से उसमें परिणत होजाता है।

जैसे मादक द्रव्यों के भक्षण से जीव मदयुक्त हो जाता है वा जिस प्रकार मदिरादि के पान करने से जीव मूर्च्छा में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार पारिणामिक स्वभाववाला होने से जीव भी जीव परिणाम में परिणत होता रहता है। यदि जीव औदयिक भाव की अपेक्षा से देखाजाय तो इस के आठो कर्मों का सदैव उदय रहता है।

इसी कारण से वह नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देव आदि गति में वा रूपादि में परिणत होता रहता है औदयिक भाव के द्वारा इसको [illegible] माया और लोभ) और औपशमिक [illegible] उत्पन्न होते रहते हैं।

तथा जिस प्रकार अग्नि और पानी का यथावत् संयोग मिल जाने पर भी यदि मुंगादि में कोकडुं आदि बीज हैं तो वे उक्त संयोग के मिल जाने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोडते। ठीक उसी प्रकार यदि अभव्य आत्माओं को सम्यगतया कालादि का संयोग भी उपलब्ध हो जावे तो फिर भी वे स्वस्वभाव मोक्ष साधन का न होने से मोक्ष के साधक नहीं बन सके।

तृतीय जीव संज्ञक पारिणामिक द्रव्य है जैसे कि मुक्त आत्मा। क्योंकि मुक्तात्माओं को भव्य संज्ञक भी नहीं कह सके क्योंकि भव्य मुक्ति जाने वाले आत्मा की संज्ञा है सो वे तो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं अतः वे भव्य संज्ञक तो कहे नहीं जाते।

तथा नहीं वे अभव्य संज्ञक हैं क्योंकि अभव्य वे हैं जो मुक्ति गमन की योग्यता ही नहीं रखते। अतएव अभव्य संज्ञक भी नहीं हैं जब दोनों संज्ञाओं से वे पृथक होगए तब उनकी केवल जीव संज्ञा ही बनी रही।

सो इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि कर्मों के होने से ही इस आत्मा के उपाधि भेद कारण से इस आत्मा की अनेक प्रकार व्याख्या की जासक्ती है।

परंतु स्मृति रहे बलवीर्य का।
इसलिये इसकी अपेक्षा से

उत्तरः—जिस समय जीव नरक गति में जाकर उत्पन्न होता है उस समय वह षट पदार्थ सम्पूर्ण (पर्याप्त) करता है। जैसे कि आहार पर्याप्त १ शरीर पर्याप्त २ इंद्रिय पर्याप्त ३ श्वासोच्छ्वास पर्याप्त ४ मनः पर्याप्त ५ और भाषा पर्याप्त ६। जिस समय उक्त छःपदार्थ अपूर्ण दशा में होते हैं उस समय जीव को अपर्याप्त दशा मे कहा जाता है परन्तु जिस समय उक्त छः हों पदार्थ सम्पूर्ण दशा में हो जाते हैं तब जीव को पर्याप्त कहा जाता है। सो उक्त प्रकार से नारकीय जीवों के १४ भेद कहे जाते हैं।

प्रश्नः—तिर्यग् गति किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिस गति में जीव नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहे और टेढा होकर गमन करे इतनाही नहीं किंतु प्राय. अपनी आयु विकल भावों में ही पूर्ण करे।

प्रश्नः—तिर्यग् गति में रहने वाले जीवों के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—यद्यपि तिर्यग् गति के रहने [illegible] जीवों के अनेक भेद वर्णन [illegible] उक्त [illegible] में [illegible]

जीव जो वनस्पति स्थूल हैं उनके मुख्यतया दो भेद ही प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे कि:—प्रत्येक और साधारण सो प्रत्येक उसे कहते हैं जिसमें पृथक २ शरीर में पृथक २ जीव हों और साधारण उसका नाम है जिसके एक शरीर में अनंत जीव हों।

जैसे कंद मूलादि:—क्योंकि यावन्मात्र आलू, मूली आदि कंद मूल हैं वे सर्व अनंत काय के धरनेवाले ही हैं।

पंच जो द्वीन्द्रिय १ त्रीन्द्रिय २ चतुरिन्द्रिय ३ ये तीन प्रकार के विकलेन्द्रियतिर्यग् जीव हैं। इनके केवल पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार के भेद किये जाने पर छः भेद हो जाते हैं

किंतु पंचेंद्रिय तिर्यग् जीवों के २० भेद इस प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे कि:—जलचर, स्थलचर २ खेचर उरपुर ४ और भुजचर ५।

सो ये पांचों प्रकार के तिर्यग् गर्भ से भी उत्पन्न होते और सम्मूर्छिम भी होते हैं।

स्मृति रहे कि गर्भ से उत्पन्न होने वाले अंडजादि में जो धारण करते हैं अपितु जो सम्मूर्छिम हैं वे बिना गर्भ के केवल शरीर के निमित्तों के मिल जाने से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार जलचरों के उक्त भेद वर्णन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार एक खुर, दो खुर, गंडीपद (हाथी का पाद) और संडी पद (जैसे सिंहादि का पाद) स्थलचरों के भेद वर्णन किये गए हैं।

चरमपक्षी, लोमपक्षी, समुद्रपक्षी, और विततपक्षी ये भेद खेचरों के वर्णन किये गए हैं।

अहि, अजगर, महोरग, अशालिका, इत्यादि उरपुर सर्पों के भेद हैं। गोह, नकुल, गिलहरी इत्यादि भुजपर सर्पों के भेद हैं। यद्यपि उक्त जीवों की लाखों योनिएं हैं तथापि तिर्यग् योनि शब्द एक ही है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तिर्यग् योनि में जीव उत्पन्न क्यों होता है? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि जीव अपने किये हुए कर्मों के प्रयोग से ही उत्पन्न होते हैं किंतु किसी अन्य आत्माओं की प्रेरणा से उत्पन्न नहीं होते।

जब आत्मा कर्म करता है तब उन कर्मों के निमित्तों को भी पा लेता है। जिस प्रकार बिना बादलों के वर्षा नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार बिना निमित्तों के मिले कर्मों का फल भी नहीं भोगा जा सकता।

प्रश्नः—जब आत्मा मनुष्य गति में आता है तब किन प्रकार से आता है ?

उत्तरः—प्रकृति से भद्रता, विनीतता, आर्जव, और अमत्स-रतादि गुणों से जब जीव युक्त होता है तब आत्मा मनुष्य गति में आता है।

प्रश्नः—मनुष्य गति के कितने भेद हैं ?

उत्तरः—संग्रह नय के मत से तो केवल मनुष्य जाति का एक ही भेद है। परंतु व्यवहार नय के मत से ३०३ भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि:—कर्म-भूमिक मनुष्य, अकर्म-भूमिक मनुष्य और अंतर्द्वीपों के मनुष्य तथा सम्मूर्छिम मनुष्य।

प्रश्नः—कर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जो ७२ कलाएं पुरुषों की ६४ कला स्त्रियों की १०० प्रकार की शिल्प कलाएँ जो इनके द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हों उन्हें ही कर्म-भूमिक मनुष्य कहते हैं तथा जहां पर खड्ग विधि, लेखन विधि वा कृषि कर्म द्वारा जीवन [illegible] किया जा सके उसे ही कर्म-भूमि मनुष्य कहते हैं क्योंकि जब देश, धर्म, सुव्यवस्थित [illegible] आता है तब कर्म-भूमिक मनुष्य कहलाते हैं [illegible] कर्मों द्वारा जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं

प्रश्नः—अकर्म-भूमिक मनुष्य किसे कहते हैं ?

उत्तरः.. जिस काल में उक्त क्रियाएं न करनी पड़े केवल कल्पवृक्षों द्वारा ही अपना सुख पूर्वक जीवन व्यतीत किया जाय उस काल के उत्पन्न हुए मनुष्यों को अकर्म-भूमिक मनुष्य कहते हैं। कारण कि यह समय इस प्रकार से सुखरूप होता है कि उस काल के मनुष्य भी स्वर्गगामी होते हैं और अपना सुख पूर्वक समय व्यतीत करते हैं।

प्रश्नः—अंतर्द्वीपों के रहने वाले मनुष्य किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तरः—लवण समुद्र में ५६ अंतर्द्वीप प्रतिपादन किये गए हैं उनमें भी अकर्म-भूमिक (युगलिये) संज्ञक मनुष्य उत्पन्न होते हैं। वे अपना जीवन भी कल्पवृक्षों के आधार पर ही पूर्ण करते हैं फिर वे मरकर देवयोनि को ही प्राप्त हो जाते हैं। सो जल के अन्तर पर होने से ही उन्हें अन्तर्द्वीप कहा गया है। सो यदि मनुष्यलोक में सर्व क्षेत्रों की गणना की जाय तो पाच भरत, पाच ऐरवर्त, और पाच महाविदेह ये १५ क्षेत्र कर्म भूमियों के कहे जाते हैं किन्तु पाच हैमवय, पाच हैरण्यवय, पाच हरिवर्ष, पाच रम्यकवर्ष पाच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु ये ३० क्षेत्र अकर्म-भूमियों के

कथन किये गए हैं और लवण समुद्र में एक रूपादि ५६ अन्तर्द्वीप भी मनुष्यों के ही क्षेत्र हैं। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से १०१ मनुष्य क्षेत्र होते हैं। सो एक सौ एक पर्याप्त और एक सौ एक अपर्याप्त इस प्रकार करने से २०२ भेद मनुष्यों के होगए। फिर इन्हीं भेदों वाले मनुष्यों के अवयवों में जो समुच्छिम मनुष्य होते हैं अर्थात् एक सौ एक क्षेत्रों में समुच्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सर्व एकत्र करने से ३०३ भेद मनुष्यों के प्रतिपादन किये गए हैं।

प्रश्नः—समुर्च्छिम मनुष्य किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं?

उत्तरः—जो गर्भ से उत्पन्न हुए मनुष्य हैं उनके मल मूत्रादि में जो जीव उत्पन्न होते हैं उन जीवों की मनुष्य संज्ञा है अतः उन्हें समुर्च्छिम मनुष्य कहते हैं।

प्रश्नः—मनुष्य के किन २ अवयवों में वे समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं?

उत्तरः—मनुष्य के (१४) चतुर्दश अवयवों में वे समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नः—वे अवयव कौन २ से हैं?

उत्तर:—वे भेद निम्न लिखितानुसार पढ़िये :—

१ (उच्चारेसुवा) मलोत्सर्ग में (विष्टा में) २ (पासवणेसुवा) मूत्रमें ३ (खेलेसुवा) मुखके मल में ४ (संघाणेसुवा) नाक के मैल में ५ (वंतेसु वा) वमनमें ६ (पित्तेसु वा) पित्तमें ७ (पूएसु वा) पूत, राध में ८ (सोणिएसु वा) रुधिर में ९ (सुक्केसु वा) शुक्र (वीर्य) में १० (सुक्क पोग्गल पडिसाडेसु वा) शुक्र पुद्गल के सड़जाने पर ११ (विगय जीव कलेवरेसु वा) मृतक के शरीर में १२ (इत्थीपुरिससंजोएसु वा) स्त्रीपुरुष के संयोग में १३ (णगर निद्ध वणेसु वा) नगर की खाई में अर्थात् नगर का सब मल मूत्रादि के कारण से अति दुर्गंधमय होजाता है फिर उसमें समुर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होने लगती है १४ (सव्वेसुचेव असुइठाणेसु वा) और सब अशुचि के स्थानों में समुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं।

अतएव विवेकशील पुरुषों को योग्य है कि वे बिना यत्न के कोई भी क्रियाएं न करें क्योंकि बिना यत्न से क्रियाएं [illegible] हुई पाप कर्म का बंध और व्यवहार पक्ष में रोगों का उत्पत्ति कारण बन जाता है।

[illegible] क्रिया [illegible] भावना से की हुई [illegible] होती है।

नवग्रैवेयक देवलोक [illegible]:—

भद्र १ सुभद्र २ सुजात ३ सौमनस्य ४ प्रियदर्शन ५ सुदर्शन ६ अमोघ ७ सुप्रतिबद्ध ८ यशोधर ९

पांच अनुत्तर विमान:—

विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और सर्वार्थसिद्ध ५।

नव लोकान्तिक देव:— सारस्वत १ आदित्य २ वह्नी ३ वारुनी ४ गंधतोय ५ तुषित ६ अव्याबाध ७ आग्नेय ८ और रिष्ट ९।

तीन प्रकार के किल्विषिक देव:—

१ तीन पल्योपम की आयु वाले किल्विषी देव ज्योतिषी देवों के ऊपर हैं परंतु प्रथम द्वितीय स्वर्ग के नीचे हैं २ तीन सागरोपम की आयु वाले किल्विषी देव प्रथम द्वितीय स्वर्ग के ऊपर हैं किंतु तृतीय और चतुर्थ स्वर्ग के नीचे हैं ३ तेरह सागर की स्थिति वाले [illegible] हैं और छठे स्वर्ग के [illegible]।

[illegible]

[illegible]

ये सब ९९ प्रकार के देव पर्याप्त और अपर्याप्त रूप दो भेद करने से देवों के सर्व भेद १९८ हुए।

सो उक्त कथन किये हुए सर्व स्थानों में जीव स्व स्वकर्मों के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण जीव तत्व के विषय में चलरहा था तथापि अनादि संसारचक्र में नाना प्रकार की योनियों में जीव अपने २ कर्मों के अनुसार परिभ्रमण कर रहा है अतः उन स्थानों का केवल संक्षेप मात्र से दिग्दर्शन कराया गया है।

परंच जिस समय आत्मा नूतन कर्मों को सम्वर द्वारा निरोध करलेता है तब प्राचीन जो कर्म किये हुए होते हैं उनको स्वाध्याय वा तप द्वारा क्षय कर देता है। जब सर्व प्रकार के कर्म बंधन से आत्मा विमुक्त होजाता है तब फिर वह निर्वाण पद की प्राप्ति करता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब आत्मा निर्वाण पद प्राप्त कर लेने पर भी सक्रिय है तो फिर वहां पर कर्मों का बंध क्यों नहीं करता ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि — वह सक्रियता आत्मिक गुणों के आश्रित है किंतु कषायात्मा वा योगात्मा के आश्रित नहीं है इसलिये वह कर्मों का बंध नहीं कर सकी। क्योंकि उस क्रिया की साधन सामग्री

कर्ता के पास विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार एक पूर्ण विद्वान पुरुष है और लेखक भी अद्वितीय है परंतु मसी पात्र या लेखनी तथा पत्र उसके पास नहीं है तो भला फिर वह किस प्रकार समर्थ विद्वान होने पर भी पत्र लिख सक्ता है? अपितु नहीं लिख सक्ता। ठीक इसी प्रकार योगात्मा वा कषायात्मा के न होने से मोक्षात्मा सक्रियत्व होने पर भी कर्मों का बंध नहीं करता। जिस प्रकार लेखन सामग्री के न होने से पत्र नहीं लिख सक्ता किंतु लेखक क्रिया उसमें विद्यमान रहती है तद्वत् मोक्षात्मा विषय जानना चाहिये।

पाठ आठवाँ।

अजीव तत्व।

पक्ष प्रतिपक्ष रूप धर्म प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है। इसी न्याय के आश्रित होकर तत्वों की संख्या गिनी जाती है।

प्रश्नः—तत्व किसे कहते हैं?

उत्तरः—वस्तु के वास्तविक स्वरूप को तत्व कहते हैं

प्रश्नः—तत्व कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं?

उत्तरः—नव [९] प्रकार से।

इस प्रकार सर्व भेद अरूपी अजीव तत्व के ३० हो गए।

प्रश्नः—रूपी अजीव तत्व किसे कहते हैं ?

उत्तरः—पुद्गल द्रव्य कोः—क्योंकि पुद्गल शब्द का यही अर्थ है कि जिसके परमाणुओंके मिलने और बिछुरने का स्वभाव हो तथा संयोग और वियोग के करने वाला हो तथा यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर हैं तथा उपभोग के अर्थ में आता है वह सब पुद्गल द्रव्य ही है।

प्रश्नः—जिस प्रकार अरूपी अजीव के ३० भेद वर्णन किये गए ठीक उसी प्रकार रूपी अजीव के कितने भेद वर्णन किये गए हैं ?

उत्तरः—५३० भेद रूपी अजीव तत्व के वर्णन किये गए हैं।

प्रश्नः—वे किस प्रकार से ?

उत्तरः—सुनिये। जैसे कि —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

५ रसः— तिक्त १ कटुक २ कषाय रस ३ अम्ल
(खट्टा) ४ मधुर ५

गन्धः—दुर्गंध और सुगंध।

स्पर्शः...कर्कश १ सकोमल २ रूक्ष ३ स्निग्ध ४ लघु
गुरु ६ उष्ण ७ शीत ८.

परिमंडले संस्थान का भाजन हो वृत्त संस्थान प्रति
हो तो परिमंडल संस्थान मे २० बोल पडते हैं।

ऐसे किः—पांच वर्ण १ पांच रस २ दो गंधे ३ आठ
स्पर्श इसी प्रकार २० बोल वृत्त संस्थान में २० त्र्यंस में
२० बोल चतुरस्र संस्थान में २० बोल आयत संस्थान में सर्व
पांच संस्थानों मे २० बोल होगए।

१ कृष्ण वर्ण के भाजन मे २० बोलः—५ रस ५
सस्थान २ गध ८ स्पर्शः—

सो इसी प्रकार नीलवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, और
श्वेतवर्ण मे भी पूर्वोक्त विधि से २०-२० बोल पडते हैं सो
सर्व संख्या एकत्र करने से १०० बोल होजाते हैं। सो जिस
प्रकार से पांच वर्णों मे १०० भेद पडते हैं उसी प्रकार पांच
रसों के भी १०० भेद होजाते हैं तथा ५ संस्थानों के भी
उक्त विधि से १०० भेद बन जाते हैं परंतु सुगंध में २३

क्योंकि जब परमाणु पुद्गल का अनंत पर्याय वर्णन कि-
या है तो फिर उसके भेद भी तो अनंत हो सके हैं। और
सर्व जगत् जड़ और चेतन से युक्त है। संसारी आत्मा
जड़ पदार्थों के मोहमें फंसकर दुःख उठारहा है।

प्रश्नः—जड़ पदार्थों में अदृश्य गुण कबसे है?

उत्तरः—अनादि काल से।

प्रश्नः—जब अनादित्व अदृश्य गुण है तो फिर उस गुण से
आत्मा विमुक्त किस प्रकार हो सक्ता है?

उत्तरः—स्वानुभवसे।

प्रश्नः—स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये?

उत्तर....सदैव काल इस बातका अनुभव करते रहना
चाहिये कि हे आत्मन! तू अनंत शक्ति स्वरूप है
तू अजर अमर और सिद्ध बुद्ध है तथा हे आत्मन
तू सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है और तू ही सब [illegible]
[illegible] है किन्तु कर्मों के कारण से तू मूर्ख औ[र]
[illegible] है, यदि तू धर्म औ[र]
[illegible] तो तू सर्व प्रकार [illegible]
[illegible] सिद्ध बुद्ध होजायगा [illegible]
[illegible] हो रहा
[illegible] अतएव तुझे योग्य है।

पवित्र बनाता है क्योंकि तत्व का वास्तवमें यही मुख्य लक्षण है कि यह स्वतंत्रता पूर्वक अपना कार्य करता रहता है।

प्रश्नः—क्या सभी आत्माएं संसार में परिभ्रमण करनेवाली पुण्योपार्जन करती रहती हैं ?

उत्तरः—हां, संसारी सभी आत्माएं समय २ उक्त कर्म का संचय करती रहती हैं परंतु विशेषता इतनी ही है कि न्यूनाधिक पुण्य प्रकृतियों का प्रत्येक आत्माएं समय २ बंध करती रहती हैं।

प्रश्नः—क्या किसी नयने पुण्य को धर्म भी माना है ?

उत्तरः—हां व्यवहार नय के मत से पुण्य क्रियाओं को धर्म भी माना गया है

प्रश्न.—क्या पुण्य रूप क्रिया आत्मरूप धर्म नहीं है ?

उत्तर.—आत्मरूप धर्म पुण्य और पाप दोनों से रहित होता है

प्रश्नः—हम तो पुण्यरूप क्रियाओं को ही आत्मरूप धर्म समझते हैं

उत्तरः—यह कथन आपका विचार पूर्वक नहीं है क्योंकि यदि कोई धर्म शक्ति को बढ़ाने वा [illegible]

का वेष पहनाकर राजद्वार में भेजा जाय तो फिर वह क्या उस वेष के पहनने से ही विद्वान वा प्रोफेसर तथा डाक्टर आदि उपाधियों के काम देने में समर्थ हो जायगा ? कदापि नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि उसका वेष तो वही है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उसमें विद्या नहीं है केवल वेष क्या बना सकता है ? सो इसी प्रकार पुण्य रूप तत्त्व आत्मा के बाहर रूप वेष को पवित्र बनाता है नतु अंतरंग आत्मा को। क्योंकि पुण्य केवल अघाति में रूप कर्मों का ही फल है।

अतएव जिस प्रकार सुंदर आभूषण वा सुंदर रूप, वस्त्र बाह्य रूप शरीर को सुंदर वा अलंकृत करते हैं उसी प्रकार पुण्य तत्त्व के विषय में भी जानना चाहिये।

प्रश्न—वास्तव में तत्त्व शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर:—पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को तत्त्व कहते हैं।

प्रश्न —पुण्य [illegible] आत्मा से [illegible] बांधते हैं ?

उत्तर —[illegible] पुण्य कर्म का संचय करते हैं।

प्रश्न [illegible] ?

उत्तर —[illegible] पुण्य [illegible] (पात्र पुण्ये)
[illegible] पुण्य, [illegible] आदि की

प्रश्नः—पुण्य कर्म का फल किस २ कर्मों के उदय में भोगने में आता है ?

उत्तरः—चार कर्म की प्रकृतियों के उदय में आत्मा पुण्य कर्म के फलों का अनुभव करता है।

प्रश्नः—वे चार कर्म कौन २ से हैं ? उनके नाम बतलाइये।

उत्तरः—वेदनीय कर्म १ आयु कर्म २ नाम कर्म ३ और गोत्र कर्म ४।

प्रश्नः—जब नौ कारणों से आत्मा पुण्य कर्म के परमाणुओं का संचय करता है तब वे भोगने कितने प्रकार से हैं ?

उत्तरः—४२ प्रकार से पुण्य कर्म के फलों को भोगते हैं।

प्रश्नः—वे ४२ प्रकृतियां कौन २ सी हैं कि जिनके द्वारा पुण्य कर्म का फल भोगा जाता है ?

उत्तरः—वेदनीय कर्म की साता वेदनीय नाम एक ही प्रकृति है जिसके उदय से जीव सुखों का ही अनुभव करता रहता है और आयु कर्म की तीन प्रकृतियें पुण्य के उदय से बंध पाती हैं [illegible] देवता की आयु १ मनुष्य की आयु २ और दीर्घ सुखका

जिस कर्म के माहात्म्य से पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होवे क्योंकि अव्यभिचारी सदृशता से एक रूप करनेवाले विशेष को आते कहते हैं। अर्थात् वह सदृश धर्म वाले पदार्थों को ही ग्रह करता है।

४ औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उदार प्रधान अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष जा सके तथा जो मांस अस्थि आदि से बना हुआ हो।

५ वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

एकसे अनेक और विचित्र बन सके।

६ आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

प्राणि दया, तीर्थंकरों की ऋद्धिका देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय छेदन करना इत्यादि कारण उत्पन्न होनेपर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योग बल से जो शरीर बनाते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं।

७ तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

औदारिक वैक्रिय शरीर को तेज (कांति) देनेवाला आहार का पचाने वाला और तेजोलेश्या का साधक तैजस शरीर कहलाता है।

१५ शुभगंधनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शुभ गध की अर्थात् सुगंध की प्राप्ति हो तथा शरीर ही सुगंधित रहे वा श्वासोश्वास सुगंधमय आता रहे ।

१६ शुभरसनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में शुभ रस की उपलब्धि हो ।

१७ शुभ स्पर्श नाम कर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से शरीर मे शुभ कोमल वा रूक्षादि स्पर्श हो ।

१८ देवानुपूर्वी-नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह आदि गति से देव लोक में पहुंच जावे । जिस प्रकार ऊंट नकेल से खींचा हुआ अपने अभीष्ट स्थान पर जा पहुंचता है ।

१९ मनुष्यानुपूर्वी-नामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस कर्म के उदय से जीव आनुपूर्वीद्वारा मनुष्यगति मे पहुंचता है ।

२० शुभगतिनामकर्म किसे कहते हैं ?

जिस नाम कर्म के उदय से शुभ गति मे जीव चला जावे

प्रश्नः—ये उक्त पुण्य प्रकृतियाँ क्या अपने आप फल देने
समर्थता रखती हैं ?

उत्तरः—जब कर्म बांधने या भोगने का समय उपस्थित हो
है तब उस समय आत्मा काल, स्वभाव, निय
कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों को एकत्र
लेता है। और जब ये पांच समवाय एकत्र हो ज
हैं तब आत्मा इनके द्वारा फलों का अनुभ
करने लगता है।

प्रश्नः—इन पांच समवायों की सिद्धि में कोई दृष्टान्त
देकर समझाओ ?

उत्तरः—जिस प्रकार एक कृषिवल (किसान) को अपने
खेतमें धान्य बीजना है तो प्रथम तो उस धान्य
के बीजने का समय (काल) ठीक होना चाहिये।
जब काल ठीक है तब धान्य शुद्ध होना चाहिये
क्योंकि जिस बीज का अंकुर देने का स्वभाव है
वही बीज माफिक हो सकता है अन्य नहीं।

जब स्वभाव शुद्ध है तब नियति अर्थात बाहिर की
[illegible] भी शुद्ध होनी चाहिये। इसी प्रकार उस बीजने आदि
का कर्म भी यथावत होना चाहिये।

कल्पना करो कि जब चारों ही समवाय ठीक मिल जाँय तब फिर पुरुषार्थ की भी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि विना पुरुषार्थ किये वे चारों समवाय निरर्थक होने की संभावना की जासकेगी।

अतएव जब पांचवां समवाय पुरुषार्थ भी यथावत् मिलगया तब वह कृषिबल अपनी क्रियासिद्धि में सफल मनोरथ हो सका है।

सो इसी न्याय से आत्मा भी कर्म बांधने वा भोगने में उक्त पांच समवायों की अवश्यमेव आवश्यकता रखता है।

क्योंकि जिस प्रकार एक सुलेखक मसीपात्र वा पत्रादि सामग्री के विना लेखन क्रिया में सफल मनोरथ नहीं हो सका, ठीक इसी प्रकार आत्मा भी उक्त पांचों समवायों के विना मिले किसी भी क्रिया की सिद्धि में सफल मनोरथ नहीं हो सका।

अतएव निश्चय यह निकला कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पांच समवायों का [illegible] आवश्यक होता है

प्रश्नः—जब आत्मा पुण्य पाप करने का [illegible] कर्ता है तो फिर क्या है पुण्य पापादि किसी विशेष कारण से उन फल के देने वाले भी बन जाते हैं ?

आत्मा सम्यग्-दर्शनादि के द्वारा ठीक २ पदार्थों का अनुभव कर सक्ता है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति करे या उसकी खोज करे।

पाठ दसवां।

आत्मानुप्रेक्षा।

प्रिय मुक्ष जनों! यावत्काल पर्यंत आत्मा स्वानुभव नहीं करता तावत्काल पर्यंत आत्मा आत्मिक सुखों से वंचित ही रहता है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि प्रत्येक आत्मा सुखान्वेषी हो रहा है परंतु उस अन्वेषण के मार्ग भिन्न २ दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि:— किसी २ आत्माने धन की प्राप्ति में ही सुख मान रक्खा है और किसी २ आत्माने विवाह कार्य में सुख माना हुआ है।

तथा किसी २ आत्मा ने पुत्रोत्सव में ही सुख माना हुआ है या किसी २ आत्मा ने अपनी अभीष्ट सिद्धि में सुख समझ रक्खा है। यदि विचार कर देखा जाय तो वे सब उक्त सुख के अन्वेषण करने के मार्ग वास्तव में सुमार्ग नहीं हैं।

क्योंकि उन मार्गों से यदि किसी आत्माको उनकी इच्छानुकूल सुख उपलब्ध भी हो जाय तो वे सुख चिरस्थायी

नहीं होते हैं। जैसे कि:– जब धन की इच्छानुकूल प्राप्ति होगई तब तो मानलो कि उस आत्मा को सुख तो होगया परंतु जब उसी धन का किसी निमित्त से वियोग होजाता है तब फिर वही आत्मा परम शोक से व्याकुल हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिये।

अतएव परम सुख की प्राप्ति के लिये स्वानुभव करना चाहिये। अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि स्वानुभव किस प्रकार करना चाहिये? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब आत्मा की बाहिरी वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और उस आत्मा के समभाव प्रत्येक जीव के साथ हो जाते हैं तब उस समय आत्मा स्वानुभव कर सकता है।

अतएव आत्मा के स्वानुभव करने के लिये प्रथम चार भावों का अवलम्बन [illegible] चाहिये। जैसे कि:

[illegible]

[illegible]

आत्मा हेयरूप पदार्थों का परित्याग नहीं करता और ज्ञेयरूप पदार्थों को ज्ञेयरूप नहीं समझता तथा उपादेयरूप पदार्थों को धारण नहीं कर सक्ता तबतक उस आत्मा को शांति का मार्ग ही उपलब्ध नहीं हो सकता।

कारण कि जबतक उस आत्माने पाप कर्मों का परित्याग नहीं किया और जीव तथा अजीव या पुण्य कर्मों के मार्गों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, संवर या निर्जरा के मार्गों को अंगीकार नहीं किया तबतक उस आत्मा को किस प्रकार स्वानुभव हो सक्ता है ?

तथा जिस प्रकार वायु से दीपक कंपायमान होता रहता है या जल में वायु के कारण से बुद्बुद (बुलबुले) उत्पन्न होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार पुण्य और पाप के बल से या उनकी उत्कृष्टता से आत्मा भी अस्थिर चित्तवाला हो जाता है जिसके कारण से वह स्वानुभव नहीं कर सक्ता या करने में उसे कई प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहते हैं।

अतएव विवेक द्वारा प्रत्येक पदार्थ पर ठीक २ अनुभव करना चाहिये अथवा [illegible] क्रियाएँ विवेक पूर्वक ही होनी चाहिये

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी गई है कि जो [illegible] [illegible] [illegible] किया जाता है वह सदैव काल शुभ और पवित्र तथा आत्मा के हित के लिये होता है।

विचार प्रत्येक पदार्थ में होना चाहिये। देखिये:—

यदि खानपानादि में विचार किया जाय तो भक्ष्य औ अमक्ष्य पदार्थों का भली भांति ज्ञान हो जाता है। यदि भक्ष पदार्थों पर भोजन करते समय विचार किया जाय तब परिमि भोजन करने से रोगों से निवृत्ति और शरीर के आलस्य क नाश होता है।

यदि चलते समय विचार किया जाय तो जीव रक्ष तथा ठोकरादि से शारीरिक रक्षा भली प्रकार से हो जाती है यदि भाषण विचार पूर्वक किया जाय तो आत्म विकास औ जनता में यश कीर्ति ही हो जाता है। यदि खानपानादि पदार्थ पर विचार किया जाय तब इच्छा निरोध और खाद्य पदार्थ पवित्र सेवन करने में आते हैं जिससे मनकी प्रसन्नता और रोगों की निवृत्ति होने की संभावना की जा सक्ती है।

यदि जीव [illegible] पदार्थ रखने या उठाने वाले विवेक या विचारपूर्वक [illegible] या [illegible] तब [illegible] जीव रक्षा दूसरे पदार्थों का ठीक यत्न [illegible] में आता है।

[illegible] बिना यत्न रख दिया [illegible] और धूल के भूमि पर गिर [illegible]

[illegible] या नदी आदि भाजन बिना [illegible] तब वे फिर फट जायेंगे।

क्या ऐसा कौनसा अकार्य है जो क्रोधी नहीं कर सकता ? सो आत्म विचार करने के लिये प्रथम शांति धारण करनी चाहिये ।

शास्त्रों में लिखा है कि "कोहो पीइं पणासेइ" क्रोध प्रीति का नाश कर देता है । जो जिन २ पदार्थों पर प्रीति होती है, क्रोधी उन २ पदार्थों का नाश कर देता है ।

सो विचारशील व्यक्तियों को योग्य है कि वे शांति द्वारा क्रोध को शांत करें । जब क्रोध शांत होगया तब फिर आत्मा विवेक और विचार से ठीक प्रकार के काम ले सकता है ।

जिस प्रकार क्रोध प्रत्येक पदार्थ के नाश करने में या बिगाड़ने में सामर्थ्य रखता है ठीक उसी प्रकार क्षमा प्रत्येक कार्य की सफलता करने में सामर्थ्य रखती है ।

कहा गया है कि शत्रुओं के जीतने में क्षमारूप एक महान् प्रकार [illegible] है जिसमें कोई भी प्रतिबन्ध हो नहीं हो सकता

अतएव आत्मानुरंजन के लिये क्षमा अवश्य धारण करनी चाहिये

४ निर्ममत्वभावः—जबतकाल पर्यंत आत्मा [illegible] भाव के आश्रित नहीं होता तावत्काल पर्यंत वह मोक्ष

के बंधन से विमुक्त भी नहीं हो सका। जब मोहनीय क
से विमुक्त न हुआ तब वह आत्मा कर्म बंधन से भी
नहीं सकता।

फिर यह बात स्वाभाविक मानी हुई है कि जब
आत्मा कर्मों से रहित नहीं होगा तब तक वह निर्वा
प्राप्ति भी नहीं कर सकेगा।

अतएव निर्ममत्वभाव का अवश्यमेव अवलम्बन क
चाहिये।

तथा इस बात का भी हृदय में चिन्तवन करना चा
कि जब स्वशरीर की भी सर्व प्रकार से अस्थिरता
जाती है तो फिर ममत्वभाव किस पदार्थ पर किया जाय

अतएव श्री आचारांग सूत्र में लिखा है कि "पुरि
तुममेव तुमं मित्तं किं बहियामित्तमिच्छसि" हे उ
ऋषि अपनी आत्मा का मित्र है फिर क्या तू बाहिर के
की इच्छा करता है? [illegible]
[illegible]
[illegible]

तुम्हारा [illegible]

बल्कि वे अपने जीवन को सफल बनाने की चेष्टा करेंगे। सो इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव में तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा मित्र है।

जिस प्रकार आत्मा को मित्र माना गया है ठीक उसी प्रकार आत्मा यदि सदाचार व सद्विद्या से विभूषित न किया तो वही आत्मा अमित्ररूप बनकर दुःखप्रद होजाता है। सो इससे स्वतः ही सिद्ध होगया कि वास्तव में मित्र या अमित्र आत्मा ही है। इसलिये ममत्वभाव को सर्वथा छोड़कर केवल निर्ममत्वभाव के आश्रित होकर आत्मान्वेषी बन जाना चाहिये।

तथा इस बात का भी पुनः चिंतवन करते रहना चाहिये कि अनंतवार इस आत्मा ने स्वर्गीय सुखों का अनुभव किया है किन्तु फिर भी इसको तृष्णा शांत न हुई तो भला इन वर्तमान कालीन क्षुद्र सुखों से क्या इस आत्मा की तृष्णा शांत हो जायगी? कदापि नहीं। तथा अपने जीवन की दशा पर प्रत्येक व्यक्ति को दृष्टि डालनी चाहिये कि मेरे जीवन में सुखप्रद वा दुःखप्रद कितने प्रकार की घटनाएं हो चुकी हैं तो मैं किन २ घटनाओं पर ममत्व भाव करूं।

जब वे घटनाएं स्थिर रूप से न रह सकी तो फिर मेरा उन घटनाओं पर ममत्वभाव करना मेरी मूर्खता का ही सूचक है। तथा ममत्व प्रायः तीन पदार्थों पर किया जाता है।

सक्ता है कि जब आत्मा के आश्रव द्वारों का संवर के द्वारा निरोध किया जायगा तब नूतन कर्मों का आगमन तो निरोध हो ही जायगा परंतु जो प्राचीन शेष कर्म रहते हैं वे स्वाध्याय और ध्यान तप के द्वारा क्षय किये जा सके हैं।

सो जब सर्वथा आत्मा कर्मों से रहित हो जायगा तब इसको निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्य होजायगी।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि:— "ध्याता, ध्येय, और ध्यान" ये तीन होते हैं परंतु जब आत्मा ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तीनों से एक ही रह जाता है। जिस प्रकार कल्पना करो कि किसी व्यक्तिके स्वकीय पुत्र को विद्या अध्ययन कराता है तब वह तीनों का एकत्व करना चाहता है। जैसे कि:— एक विद्यार्थी और दूसरा पुस्तक तीसरा अध्यापक [illegible] तब वह विद्यार्थी पढ़कर अध्यापक की परीक्षामें उत्तीर्ण होजाता है तब वह स्वयं तीनों पदों का धारण करनेवाला स्वयं ही बन जाता है [illegible] इसी प्रकार जब ध्याता ध्येय में तल्लीन होजाता है तब वह तद्रूप ही होजाता है।

जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्रों दीपकों का प्रकाश एक रूप होकर ठहरता है ठीक इसी प्रकार ध्याता

जैसे कि:—धन, पशुवर्ग, या ज्ञातिजन। सो यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो वास्तव में तीनों की स्थिरता नहीं है। अतः ममत्व करना भी व्यर्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रकार की शुभ भावनाओं द्वारा जब आत्मा निर्ममत्व भाव के आश्रित होजायगा तब इस आत्मा का उत्साह और पंडित पुरुषार्थ उन्नत दशापर पहुंच जायगा जिसके कारण से फिर यह आत्मा आत्मान्वेषी भाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा।

जब आत्मान्वेषी बनेगा तब उस आत्मा के आत्म विकास का प्रादुर्भाव होने लगेगा।

८ आत्म विकासः—जिस प्रकार बादलों के दूर होजाने पर सूर्य का विकास होने लगता है तथा जिस प्रकार सूर्य के उदय [illegible] विकसित हो जाते हैं [illegible] आत्मा के [illegible]

[illegible] हो जाते हैं [illegible]

[illegible] किस प्रकार [illegible] कहा है

कहा है कि जब आत्मा के आस्रव द्वारों का संवर के द्वारा निरोध किया जायगा तब नूतन कर्मों का आगमन तो निरोध हो ही जायगा परंतु जो प्राचीन शेष कर्म रहते हैं वे स्वाध्याय और ध्यान तप के द्वारा क्षय किये जा सके हैं।

सो जब सर्वथा आत्मा कर्मों से रहित हो जायगा तब इसको निर्वान पद की प्राप्ति अवश्य होजायगी।

क्योंकि यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि:— "ध्याता, ध्येय, और ध्यान" ये तीन होते हैं परंतु जब आत्मा ध्येय में तल्लीन होजाता है तब यह तीनों से एक ही रह जाता है। जिस प्रकार कल्पना करो कि किसी व्यक्ति ने स्वकीय पुत्र को विद्या अध्ययन कराना है तब वह तीनों का एकत्व करना चाहता है जैसे कि:— एक विद्यार्थी और दूसरा पुस्तक [illegible]

[illegible]

अतएव स्मृति रखना चाहिये कि जबतक आत्मा स्व दशाका अवलम्बन नहीं करता तबतक इसका आत्मविकास भी नहीं होसक्ता। जब आत्मविकास न हुआ तब इस आत्मा को निर्वाण पद की प्राप्ति किस प्रकार मानी जा सकी है? सो इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि आत्मविकास करने के लिये स्वावलम्बन अवश्यमेव होना चाहिये। क्योंकि जिन २ सुखों का आनंद दृष्टा अनुभव कर सक्ता है उन २ सुखों के अनंतवें भाग मात्र भी संसारी आत्मा सुखों का अनुभव नहीं कर सक्ते। क्योंकि जो सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश है उसके सदृश सहस्रों दीपकों का प्रकाश भी नहीं हो सक्ता। क्योंकि वह प्रकाश कृत्रिम है और सोपाधिक है सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक और निरुपाधिक है।

अतः शुभ भावनाओं और ध्यान समाधि द्वारा आत्म विकास करना चाहिये जिससे आत्मा का अक्षय सुख अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हो जावे।

वास्तव में जिन जो महात्माओं ने आत्मा को ही ध्येय बना लिया है वे महात्मा अपनी क्रियाओं में कृतकृत्य होकर निर्वाण पद की प्राप्ति कर गये हैं। इसी प्रकार अन्य आत्माओं को भी उनका अनुकरण करना चाहिये जिससे वे निर्वाण पद की प्राप्ति करने में समर्थ बन सकें।

पाठ ग्यारहवाँ ।

पिता पुत्र का संवाद ।

पुत्रः—पिताजी ! पुत्र के प्रति पिताजी का क्या कर्तव्य है ?

पिताः— मेरे परम प्रिय पुत्र ! पिता का पुत्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह पुत्र की यथोक्त विधि से रक्षा करे ।

पुत्रः— पूज्य पिताजी ! यथोक्त विधि से रक्षा किसे कहते हैं ? मैं इसे समझ नहीं सका ।

पिताः— मेरे प्यारे सुनु ! जिस प्रकार शास्त्रों ने पुत्र पालने के नियम प्रतिपादन किये हैं ठीक उन्हीं नियमों के द्वारा पिताओं का कर्तव्य है कि वे अपने पुत्रों की पालना या रक्षा करें ।

पुत्रः— पिताजी ! शास्त्रों ने कौन २ से नियम पुत्र पालने वा रक्षा करने के प्रतिपादन किये हैं । क्योंकि मैं उन नियमों को सुनना चाहता हूं ।

पिताः— पुत्र ! शास्त्रों ने दो प्रकार के नियम प्रतिपादन किये हैं जैसे कि—मुख्य और गौण किन्तु शोक से कहना पड़ता है कि जो मुख्य गुण थे वे गौणता रूप में आगए हैं और जो गौणता रूप

मे गुण थे वे गुप्तता रूप में प्रविष्ठ होगए हैं। इसीलिये पुत्रों का पालन यथोक्त विधि से प्रायः वर्त्तमान काल में नहीं होता। प्रत्युत प्रतिकूल रक्षा होनेसे पुत्रोंकी रक्षा दुरवस्था रूपमें होगई है।

पुत्रः— पिताजी ! मुझे यह तो कृपाकरके बतलाइये कि मुख्य रक्षा करने के नियम कौन २ से हैं और गौण गुण कौन २ से हैं ?

पिताः—मेरे परम प्यारे पुत्र ! पिताओं का प्रथम यह कर्त्तव्य है कि वे अपने प्रिय पुत्रों को सदाचार और सद्विद्याओं द्वारा उनकी पालना करें किंतु गौणतारूप में खान पान वस्त्र आभूषण भोग और शर्मांगादि द्वारा भी उनकी पालना करें। परंच वर्तमान काल में प्रायःऐसा आता है कि प्रायः गौण रूप के नियम से उनकी ओर तो विशेष ध्यान दिया जाता है और जो सदाचार और सद्विद्याओं द्वारा [illegible] का अनुकूल करना था उसकी [illegible] आता है।

पुत्र — [illegible] वस्त्रा [illegible] आभूषणों से [illegible] करता सब वे बड़े [illegible] इसमें [illegible] करना मात्र ही

को प्राप्त होरहा है तब तो कोई दुष्ट आत्मा धन और वस्त्रों का लोभी उस बालक के आभूषण वा वस्त्र उतारकर लेजायगा। तथा कोई अनार्य मार्ग को प्राप्त होकर उस बालक को प्राणों से ही वियुक्त कर देगा अर्थात मार देगा। तथा कोई दुष्ट मनुष्य उस बालक को हरणही कर लेजायगा। इत्यादि आभूषणों व वस्त्रों द्वारा अनेक संकटों का सामना उस बालक को करना पड़ेगा।

साथही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि जब इस कोमल शरीरवाले बालक को विभूषित किया जाता है तब उस बालक पर काम राग के अभिलाषी जन उस बालक को कुमार्ग में प्रवृत्त करावेंगे जिससे उस बालक का सदाचार [illegible] पश्चात् ही नष्ट भ्रष्ट होजायगा। अतएव दुष्ट [illegible] बालकों को विभूषित [illegible] जीवन को कदाचार में [illegible] है।

[illegible] कि व अपने लिए [illegible] विभूषित करने की [illegible]

[illegible] किया [illegible] प्रवृत्त होजावेंगे [illegible]

पुत्रः—पिताजी ! सदाचार किसे कहते हैं ?

पिताः—पुत्र ! जिससे अपना जीवन तो सुख पूर्वक व्यतीत किया जा सके और धर्म की वृद्धि होती रहे तथा धार्मिक जीवन से फिर स्वर्ग वा निर्वाण पद की प्राप्ति भी होजावे ।

पुत्रः—पिताजी ! वे नियम कौन २ से हैं कि जिनसे दोनों लोगों की शुद्धि होजाती है ?

पिताः—पुत्र ! यदि तू उन नियमों को सुनना चाहता है तो तू ध्यान देकर सुन । जिससे दोनों लोगों की सर्व प्रकार शुद्धि हो सक्ती है ।

पुत्रः—पिताजी ! मैं ध्यान देकर आपके पवित्र उपदेश को सुनता हू, आप सुनाइये ।

पिताः—पुत्र ! प्रथम तो बालकों को अपने पवित्र जीवन बनाने के लिये काया की शुद्धि करनी चाहिये । उन्हें बिना यत्न से बड़ों के सामने न बैठना चाहिये और जिस प्रकार अपने वृद्धों की व माता पिता की अविनय न होवे उसी प्रकार उनके सामने बैठना चाहिये । प्रातःकाल अपनी शय्या से उठते ही माता पिता व वृद्धों को नमस्कार करते हुए उनके चरण कमल का स्पर्श करना चाहिये ।

अश्लील शब्द मुख से निकालने वा किसी प्रकार से भी क्रोध का प्रदर्शन न करना इत्यादि क्रियाएँ बालकों को कदापि नहीं करनी चाहिये।

क्योंकि इस प्रकार का स्वभाव यदि पड़ जायगा तब वह जन्मभर में भी नहीं जा सकेगा।

साथ ही बालकों को योग्य है कि वे माता पिता आदि के सामने कदापि मिथ्याग्रह से वस्तु की प्राप्ति करने की चेष्टाएँ न करें और साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खें कि जब अनेक पदार्थ खाने योग्य अपने घर में उपलब्ध हो सक्ता है तो फिर क्यों बाजारादि से लाकर खाने का स्वभाव डालें। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि बाजारादि के पके हुए पदार्थ घृतादि की शुद्धि न होने के कारण से रोगादि की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं जिससे एक बार का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य बहुत काल के पश्चात् ठीक होने का कारण बन जाता है।

जब बाजारादि का खाने का स्वभाव हट जायगा तब व्यर्थ व्यय और व्यभिचारादि बहुत से कुकृत्यों से भी बचने का सौभाग्य प्राप्त होजायगा।

पुत्र:—पिताजी! यह तो आपने सदाचार के इहलौकिक के नियम बतलाये हैं जिनके पालने से प्रायः शारीरिक दशा ठीक रह सकती है। अब आप उन नियमों को

पानादि। क्योंकि इनके खेलने से समय तो व्यतीत अत्यंत होजाता है परंतु लाभ कुछ नहीं होता।

२ **मांसः**—जिन पदार्थों के खाने से निर्दयता बढ़ती हो और अनाथ प्राणि अपने प्रिय प्राणों से हाथ धो बैठते हों इस प्रकार के पदार्थ भक्षण न करने चाहिये।

क्योंकि यह बात भली प्रकारसे मानी हुई है कि मांसाहारी को दया कहां है ? तथा मांसाहार रोगों की वृद्धि भी करता है और न यह (मांसाहार) मनुष्य का आहार ही है।

क्योंकि जो पशु मांसाहारी हैं और जो पशु घासाहारी हैं तथा पशु व मनुष्य इन के शरीरोंकी आकृतियों में विभिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई पडती है। सो मांस का आहार कदापि न करना चाहिये।

३ **शिकारः**—निरपराधी जीवों को मारते फिरते रहना क्या योग्यता का लक्षण है ? कदापि नहीं। इसलिये शिकार नहीं खेलना चाहिये। इतना ही नहीं हांसी या कौतुहल के वशीभूत होकर भी किसी जीव के प्राण न लेने चाहिये।

पुत्रः—पिताजी ! जो अपने वस्त्रों या केशों में जूं आदि जीव पड़ जाते हैं तो क्या इनको भी न मारना चाहिये ?

पिताः—पुत्र ! इनको भी न मारना चाहिये।

तथा यह बात भी भली प्रकार से मानी गई है कि जो व्यक्ति वैश्या संग करते हैं उनकी पवित्रता और सदाचार सर्वथा नष्ट हो जाती है। साथही वे नाना प्रकार के रोग भी उस स्थान से ले आते हैं। बहुत से व्यक्तियों का जीवन भी कष्ट-मयी हो जाता है और फिर वे अपने पवित्र जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं।

अब विचार इसी बातका करना है कि जब उन पवित्र जीवन वैश्या संग से इसी लोक में कष्टमय होता तो भला परलोक में वे सुखमय जीवन के भोगने वाले माने जा सके हैं।

अतएव वैश्या संग कदापि न करना चाहिये।

६ परस्त्री संगः—जिस प्रकार वैश्या संग दोनों लोक में दुःखप्रद माना गया है ठीक उसी प्रकार परस्त्री संग दोनों लोक में कष्ट देनेवाला माना गया है, इसके संग परिणाम सर्वत्र सुप्रसिद्ध है तथा परदारा सवी को जि कष्टों का सामना करना पड़ता है वे कष्ट जनता से भूले नहीं हैं क्योंकि राज्यकीय धाराएं इन्हीं पापों के सेवन वालों के लिये बनाई गई है। साथही शास्त्रों से परदारा की गति नरकादि प्रतिपादन की गई है। अतएव वि शील व्यक्तियों को योग्य है कि वे कदापि उक्त व्यसन का संग न करें।

आत्मा बच जाता है तृतीय सत्यवादी आत्मा
देवता भी सेवा करते हैं और लोक में उसकी प्र
(विश्वास) होजाती है। अतएव सदा सत्य
बोलना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! भाइयों के साथ परस्पर वर्तांव
रखना चाहिये?

पिताः—मेरे प्रिय सुत! अपने भाइयों के साथ प
प्रेम पूर्वक बर्तांव रखना चाहिये। परस्पर द्वे
असूया कदापि न करना चाहिये। जब कोई
कष्ट का उपस्थित होजाय तब परस्पर सहा
द्वारा उस समय को व्यतीत करना चाहिये। क
यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जब
का समय उपस्थित होता है तब परस्पर द्वे
उत्पन्न हो जाया करता है किंतु जब प्रेम प
रहता है तब वह कष्ट भी कष्ट दायक प्रतीत
होता। सो इससे सिद्ध हुआ कि भाइयों के
परस्पर प्रेम से बर्तना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! मित्रों के साथ किस प्रकार बर्तना चा

पिताः—पुत्र! मित्रता प्रायः साधर्मी या सदाचारि
साथ ही होनी चाहिये और उसके साथ

वर्तना चाहिये. तथा जिस प्रकार मित्रता परस्पर रह सके उसी प्रकार बर्तना चाहिये ये बात भी ध्यान में रखनी चाहिये। लोभी और कामी मित्रता कभी भी नहीं रह सकती।

पुत्रः—पिताजी! क्या मित्र पर विश्वास रखना चाहिये या नहीं?

पिताः—पुत्र! बिना विश्वास किये यह मित्रता ही क्या है! हां, विश्वास उस समय तक न होना चाहिये जबतक मित्र की परीक्षा नहीं कीगई तथा उसका परिचय भली प्रकार से नहीं किया गया। परंतु जब वह परीक्षा में समुत्तीर्ण हो चुका है फिर वह विश्वासपात्र अवश्यमेव बनजाता है।

तथा इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि मित्रता [illegible] कर ही रह सकती है और निःस्वार्थ मित्रता [illegible] रह सकती है। [illegible] का पालन करना [illegible]

[illegible]

[illegible]

न हो जावे उसी प्रकार बर्तना चाहिये। विवाह के समय जो वर और कन्याओं की पाणि प्रतिज्ञाएं की जाती हैं उन प्रतिज्ञाओं की सावधानता पूर्वक पालन करना चाहिये। साथ में इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खा जाय कि जब मैं स्वधर्मपत्नी को सदाचार में रखने की विशेष चेष्टा करता रहता हूं तो फिर मुझे भी उस सदाचार में पूर्ण रहना चाहिये। क्योंकि जब मेरा सदाचार ठीक होगा तब उसका प्रभाव मेरी धर्मपत्नी पर अवश्यमेव पड़ेगा।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि स्वधर्मपत्नी के साथ मर्यादा या प्रमाण पूर्वक ही बर्तना चाहिये। तथा जिस प्रकार परस्पर क्लेश वा स्वच्छंदता न बढ़ने पावे उसी प्रकार बर्तना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! संतति के साथ किस प्रकार बर्तना चाहिये।

पिताः—मेरे परम प्रिय पुत्र। अपनी संतति के साथ प्रेम से बर्तना चाहिये। परन्तु इस बात का ध्यान अवश्यमेव रक्खा जाय कि जिस प्रकार अपनी संतति कदाचार में प्रविष्ट न होजाय उसी प्रकार सुज्ञ पुरुषों को उनके साथ बर्तना योग्य है। परन्तु अपने प्रिय पुत्र या कन्याओं को कभी भूलकर भी के

सहानुभूति द्वारा उसकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इस प्रकार करने से गण के बल की वृद्धी होती है और सहानुभूति द्वारा प्रेम मात्रा भी बढ़ जाती है जिसके कारण से फिर सर्व प्रकार की वृद्धि होती रहती है।

पुत्रः–पिताजी ! बड़ा कौन हो सक्ता है ?

पिताः–हे पुत्र ! जो सर्व प्राणी मात्र के साथ प्रेम करता है वह सब से बड़ा होसक्ता है अर्थात् वह सब का पूजनीय होजाता है। तथा व्याकरण शास्त्र में लिखा है कि स्ववर्णीय वर्ण ही दीर्घ होसक्ता है नहि अन्य वर्णीय। जैसे कि:—यदि अ अ दो स्वर एक स्थान पर एकत्र होजांय तब दोनों का मिलकर एक दीर्घाकार होजाता है। इसी प्रकार इकार और उकारादि वर्णों के विषय में भी जानना चाहिये सो हे पुत्र ! इसके कथन से यह शिक्षा उपलब्ध होती है कि स्वजाति प्रेम से ही वृद्धि पासक्ती है।

पुत्रः–पिताजी। अपने सहपाठियों के साथ किस प्रकार से वर्ताव रखना चाहिये।

पिताः–पुत्र। अपने सहपाठियों के साथ सदाचार से युक्त प्रेम पूर्वक वर्तना चाहिये। अपितु परस्पर मित्र

पिशुनता, द्रोह भाव, व असूयादि अवगुण कदापि बर्ताव में न लाना चाहिये । किन्तु जिस प्रकार विद्याभ्यास बढ़ता जाय उसी प्रकार उनके साथ वर्तना योग्य है ।

—पिताजी ! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये ?

—पुत्र ! अपने अध्यापकों और महोपाध्यायों के साथ विनय-पूर्वक-वर्तना चाहिये और पठनादि क्रियाओं के विषय में उनकी आज्ञा पालन करनी चाहिये । इतना ही नहीं किन्तु उनको विद्या गुरु वा शिल्पाचार्य समझते हुए उनकी मन, वचन और काय तथा धनादि द्वारा उनकी सेवा (पर्युपासना) करनी चाहिये । और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये ।

पिताजी ! यावन्मात्र अपने सम्बन्धी हैं या भगिनी और भ्राता आदि हैं उनके साथ किस प्रकार वर्तना चाहिये

हे प्यारे पुत्र ! यावन्मात्र स्वकीय सम्बन्धी हैं उनके साथ प्रेमपूर्वक और मर्यादा से वर्तना चाहिये परस्पर विनय से वर्ताव रखते हुए प्रत्येक का

सफलता देखी जाती है तथा उनके कष्टों के समय सहानुभूति भली प्रकार से दिखलाते हुए अहिंसा धर्म की प्रभावना भी की जासकि है। अतएव सिद्धांत यह निकला कि उचित व्यवहार रखते हुए सर्व कार्यों की सफलता भली प्रकार से की जा सक्ती है।

पुत्रः—पिताजी! जनता के साथ किस प्रकार से वर्तना चाहिये?

पिताः—पुत्र! देश वा कालके ज्ञान को भली प्रकार रखते हुए जनता के साथ प्रेम वा मर्यादा पूर्वक वर्तना चाहिये परन्तु मिथ्या हट वा कदाग्रह कदापि न करना चाहिये क्योंकि जो लोग देश के काल के ज्ञान को भली प्रकार से नहीं जानने वा कदाग्रही हैं वे कदापि जाति वा धर्मोन्नति नहीं कर सके। अतएव सिद्ध हुआ कि मिथ्या हट को छोड़कर केवल देश कालज्ञ बनना चाहिये।

पुत्रः—पिताजी! सद्विद्या किसे कहते हैं?

पिताः—जिस विद्या के पढ़ने से पदार्थों का ठीक २ बोध होजाय।

पुत्रः—पिताजी! पदार्थों के ठीक २ बोध हो जाने से फिर किस गुण की उपलब्धि होती है?

पाप कर्म और आस्रव जिसके द्वारा पाप कर्मों का आगमन हो तथा बन्ध जिसमें आत्म प्रदेश कर्मों से और नीरवत एक रूप होजायें ये तीनों पदार्थ त्यागने योग्य हैं किन्तु जिसमें कर्मों का आगमन बंद होजाय अर्थात सम्वर और निर्जरा जिससे कर्म क्षय किये जासकें और मोक्ष ये तीनों पदार्थ धारण करने योग्य हैं।

इसलिये सद्‌विद्याओं द्वारा तत्त्व पदार्थों का बोध अवश्य करना चाहिये जिससे आत्मा अपना कल्याण भी कर सके।

पुत्रः—पिताजी ! क्या इन पदार्थों के जानने से गृहस्थाश्रम का पालन भी हो सक्ता है ?

पिताः—पुत्र ! युक्ति से कार्य किया हुआ गृहस्थाश्रम का सुख पूर्वक निर्वाह कर सक्ता है।

पुत्रः—पिताजी ! ये भी मुझे समझा दीजिये कि युक्ति पूर्वक किस प्रकार गृहस्थाश्रम का पालन किया जासक्ता है।

पिताः—पुत्र ! जिन जिन कामों में अधिक हिंसादि क्रियाएं लगती हों उनका और अनर्थादंड का परित्याग करके गृहस्थाश्रम सुख पूर्वक निर्वाह किया जासक्ता है। जैसे कि:—स्वदेशी आहार, स्वदेशी आचार और

स्वदेशी वैद्यादि द्वारा सुख पूर्वक निर्वाह करते हुए गृहस्थाश्रम के सुख पूर्वक नियम पालन किये जासके हैं।

प्र:—पिताजी ! उक्त तीनों के अर्थ मुझे समझा दीजिये।

पिता:—पुत्र ! ध्यान देकर सुन। हे मेरे परम प्रिय पुत्र ! जिस देश के जल, वायु और पदार्थों के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है फिर प्रायः उसी देश के स्वच्छ पदार्थों के सेवन (आहार) से शरीर की सौंदर्यता तथा बल की वृद्धि सुखकर होती है इसलिये स्वदेशी पदार्थों के आहार से अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये। साथ ही जिन पदार्थों के आसेवन से क्षण मात्र तो सुख प्रतीत होने लगे परन्तु उनका अंतिम परिणाम हितकर न होवे तो वे पदार्थ स्वदेश में उत्पन्न होने पर भी सेवन के योग्य नहीं हैं। जैसे शिशिर काल में बहुत से लोग पानी के बर्फ का सेवन करते हैं और इसका सेवन होते [illegible] हैं जैसे शि— [illegible]

पुत्रः—पिताजी ! जब स्वदेशी औषध परम गुण कार
मानी गई है तो फिर लोग इस औषध का विशे
आदर क्यों नहीं करते ?

पिताः—हे प्यारे पुत्र ! स्वदेशी औषध अधिक गुण युक्त
पर भी स्वदेशी वैद्यों ने वा स्वदेशी औषध बेचने
इसके महात्म्य को प्रायः खोदिया है। जैसे कि:
जिस प्रकार से औषध बनाने की विधि लिखी है,
साधनों के अभाव वा प्रमाद के कारण से औषध उस
से तैयार ही नहीं किया जाता, सो जब उस बनाने की
में त्रुटि रह गई है तो फिर भला उस औषध का सेवन
शुभ फल प्रद किस प्रकार माना जा सक्ता है ?

तथा यदि सुयोग्य वैद्यों द्वारा तथा उस औषध
सम्पूर्ण साधनों द्वारा उसका बनाना तो ठीक किया गया
परंतु जो लोग (पसारी) देशी औषधि को बेचते हैं उन
ने लालच के वशीभूत होकर जब औषध के बल का सम
व्यतीत होगया है अर्थात वे औषधि प्राचीन हो गई हैं तथ
अपने बलसे प्राय: रहित हो गई हैं फिर भी वे लोग औष
के बेचने से पीछे नहीं हटते हैं अर्थात् बेचते ही जाते हैं। अ
विचारनेकी बात है कि जब उस औषध में बल ही नहीं रह
तो भला फिर उस औषध के सेवन से किस लाभ की
संभावना की जा सके।

सो इसी कारण से स्वदेशी औषध का माहात्म न्यून ो गया है, तथा जो प्रकृति के प्रतिकूल औषध हैं उसका रिणाम क्षणमात्र तो सुख प्रद देखा जाता है परंतु प्रायः वह ौषधी जड से रोग को उखाडने में अपनी असमर्थता खती है।

जिस प्रकार दीर्घ ज्वर से पीडित कोई व्यक्ति जल, जल ी पुकारता है और यदि वह इच्छानुसार जलपान भी कर वे फिर उसको क्षण मात्र तो शांतिसी प्रतीति होने लगती । परंतु क्षणमात्र के पश्चात् उसकी फिर पूर्ववत् ही दशा ोजाती है।

ठीक उसी प्रकार प्रकृति के प्रतिकूल औषध की भी यही शा जाननी चाहिये।

अतएव हे प्यारे पुत्र! प्रथम तो आर्य आहारादि द्वारा ायः रोगही उत्पन्न नहीं हो सके। क्योंकि जब देश व काल े अनुसार विधि पूर्वक आहारादि क्रियाएं की जाती हैं तो भला फिर रोग की उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है?

भला किसी कारण से उसे रोग उत्पन्न हो ही गया तो फिर उसको औषध को छोडकर उपवास प्रथम आदि करना चाहिये। क्योंकि उपवासादि के करने से प्रायः कष्ट साध्य रोग भी उपशान्त हो सके हैं।

पुत्रः—पिताजी ! जब स्वदेशी औषध परम गुण कार[illegible]
मानी गई है तो फिर लोग इस औषध का [illegible]
आदर क्यों नहीं करते ?

पिताः—हे प्यारे पुत्र ! स्वदेशी औषध अधिक गुण युक्त [illegible]
पर भी स्वदेशी वैद्यों ने वा स्वदेशी औषध बेचने वालों
इसके महात्म्य को प्रायः खो दिया है। जैसे कि:—प्रथम
जिस प्रकार से औषध बनाने की विधि लिखी है, [illegible]
साधनों के अभाव वा प्रमाद के कारण से औषध उस [illegible]
से तैयार ही नहीं किया जाता, सो जब उस बनाने की [illegible]
में त्रुटि रह गई है तो फिर भला उस औषध का सेवन कर[illegible]
शुभ फल प्रद किस प्रकार माना जा सकता है ?

तथा यदि सुयोग्य वैद्यों द्वारा तथा उस औषध [illegible]
सम्पूर्ण साधनों द्वारा उसका बनाना तो ठीक किया गया।
परंतु जो लोग (पसारि) देशी औषधि को बेचते हैं उन लोगों
ने लालच के वशीभूत होकर जब औषध के बल का समय
व्यतीत होगया है अर्थात वे औषधि प्राचीन हो गई है तथा
अपने बलसे नाय रहित हो गई हैं फिर भी वे लोग औषध
के बेचने से पीछे नहीं हटते हैं अर्थात बेचते ही जाते हैं। अब
विचारनेकी बात है कि जब उस औषध में बल ही नहीं रहा
तो भला फिर उस औषध के सेवन से किस लाभ की
संभावना की जा सके।

या देशावगाशिक व्रत-का मुख्योपदेश स्वदे॰ पदार्थों का सेवन करनाही है। अतएव सर्व सु जनों को योग्य है कि वे संवर व्रत के आधि होकर स्वदेशी पदार्थों के सेवन से अपने जीवन पवित्र बनावें जिससे सुगति के अधिकारी ब जावें। साथही इस बात का भी ध्यान रहे कि जिस देश में जिसका जन्म हुआ है उसी देश क उसके लिये प्रायः जल वायु आदि हितकर होते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह अप उत्पन्न हुए देश के सम्बन्ध का यथाविधि पूर्वो उपदेश का ध्यान रक्खे।

पाठ बारहवाँ।

कुप्रथाएँ।

प्रिय मित्रो! सुमार्ग में चलने में ही प्रत्येक प्राणी सुखों का अनुभव कर सकता है जिस प्रकार यंत्र शकटी (रेलगाड़ी) (वाष्प रथ) स्वकीय रस्ता (लैन) पर चलती हुई अपने अभीष्ट स्थान पर सुख पूर्वक पहुँच जाती है, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति सुमार्ग पर चलता है वह सुख पूर्वक निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ हो ही जाता है।

परन्तु ये बालिकाएं निराश्रित अपने आपको समझती हुई उन वैशाचकी व्यवहारों को सहन किये जाती है जिसका परिणाम धर्म या जाति अभ्युदय के लिये अत्यंत बाधा जनक देखा जाता है। अतएव दया-धर्म के मानने वालों को योग्य है कि इस अत्याचार को अपने २ गण से बाहिर करने की चेष्टाएं करें। क्योंकि विरादरी के मुखिया इसलिये होते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वच्छदता पूर्वक कोई काम करने लगे तो उसका प्रतिवाद करते हुए उसको शिक्षित करें।

जब गण के स्थविर इस ओर लक्ष्य ही न दें तो भला फिर गणोन्नति या जाति सेवा तथा जाति रक्षा किस प्रकार रह सक्ती है?

आवश्यक सूत्र के गृहस्थ के ७ वें व्रत में "केश वाणिज्य" के पाठ से श्री भगवान ने इस कृत्य को कर्मादान के नाम से बतलाकर इसके छोड़ने का उपदेश दिया है। सो कन्या विक्रय से जो २ दोष दृष्टिगोचर होते हैं वे सब के सामने हैं। इसलिये इस कृत्य को सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

पुरुष विक्रयः—जिस प्रकार कन्या विक्रय महा पाप॰ जन्य कृत्य है ठीक उसी प्रकार बालक विक्रय या पुरुष विक्रय भी पापजन्य कृत्य है क्योंकि जिन २ दोषों की प्राप्ति कन्या विक्रय से होती है वेही दोष पुरुष विक्रय में भी

भस्म में घृत डाला हुआ व्यर्थ जाता है ठीक उसी प्रक
उक्त स्थानों में धन व्यय किया हुआ किसी भी कार्य
सिद्धि करने में सामर्थ्यता नहीं रखता।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह व्य
व्यय करने से बचता रहे और साथ ही धर्म, अर्थ, औ
काम इन तीन वर्ग का यथोचित रीति से पालन करता रहे

क्योंकि प्रमाण से अधिक सेवन किये हुए पदार्थ लाभ
स्थान पर हानि के कारणीभूत बन जाते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि पात्रों के अतिरिक्त
व्यर्थ व्यय ही जानना चाहिये।

साथ ही विवाह आदि क्रियाएं करते समय जो प्रम
या नियम से अधिक क्रियाए की जाती हैं वे सर्व व
व्यय में ही जाननी चाहिये क्योंकि इन संस्कारों के स
जो गण के स्थविर होते हैं वे देश या काल के अनु
नये २ नियमों की रचना करते रहते हैं जो देश
काल के अनुसार वे नियम कार्य साधक बनजाते हैं। उन
विचार यह होता है कि इन नियमों के पथ पर धनाढ्य
निर्धन सुख पूर्वक गमन कर सकेंगे जिससे किसी को
बाधा उपस्थित न होगी। जिस प्रकार राजमार्ग पर
व्यक्ति सुख पूर्वक गमन कर सके हैं और गमन करते

हैं ठीक उसी प्रकार नियमों के पथपर भी सर्व गणवासी चलते रहते हैं। परन्तु किसी बल या मद के आश्रित होकर उन नियमों के पालन करने की परवाह न करना तथा उन नियमों को छेदन भेदन करदेना यह योग्यता का लक्षण नहीं है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह देश काल का ठीक ज्ञान रखते हुए व्यय के घटाने की चेष्टाएं करते रहें। तथा उन नियमों के छिन्न भिन्न करने की चेष्टाएं कदापि न करें। तथा यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जो पदार्थ परिणाम पूर्वक सेवन किये जाते हैं वे किसी प्रकार की बाधाएं उपस्थित नहीं करते। किंतु जो परिणाम से बाहिर सेवन करने में आते हैं वे किसी प्रकार से भी सुख-प्रद नहीं माने जासके। जिस प्रकार उष्ण काल में परिणाम से सेवन किया हुआ जल, आयु का संरक्षक होता है ठीक उसी प्रकार परिणाम से अधिक सेवन किया हुआ आयु के क्षय का कारण बन जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में जानना चाहिये। व्यर्थ व्यय उसी का वास्तव में नाम है जो सांसारिक [illegible] बातों की [illegible] के बिना किया जाय

यदि ऐसा कहा जाय कि जब हम रात्रि के समय नृत्यादि को देखते हैं तो क्या उनके देखने में हमारी कार्य [illegible] नहीं हुई है। अवश्य हुई है। क्योंकि जो हमारी

अर्थात उनकी धर्म-क्रियाओं में आनेवाली अनेक बाधाओं को निर्मूल किया जाय।

तथा देश कालानुसार उनकी रक्षा करते हुए अपने पवित्र, परम पवित्र अहिंसा धर्म का परिचय दिया जाय।

और साथ ही इस बात का सदैव विचार करना चाहिये कि हमारा परम पवित्र अहिंसा धर्म प्रत्येक प्राणी का रक्षक है न तु प्रत्येक प्राणी को दुःख देनेवाला।

यदि ऐसा कहा जाय कि क्या हम पूर्व पुरुषों की बांधी हुई प्रथा को छोड़दें? तो इस प्रकार की शंकाओं के उत्तर में कहाजाता है कि बहुत सी प्रथाएं पूर्व पुरुष उस समय के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को देखकर ही बांधा करते हैं, जब ये प्रथाएं कालान्तर में विशेष लाभप्रद नहीं रहती तब वर्तमान कालीन महापुरुष (गण स्थविरादि) उन नियमों में परिवर्तन अवश्यमेव कर देते हैं। जैसे कि:—कुलकरों या तीर्थंकरों ने किया तथा वर्तमान काल में प्रत्येक सुशिक्षित समाज राज्यकीय कर्मचारी गण प्रत्येक नियम में सुधारा अर्थात् परिवर्तन करते रहते हैं।

अतएवअ नादि नियमों के बिना प्रत्येक नियम परिवर्तन-शील माना गया है।

ताए अब्भुट्ठे यव्वं भवति ७, साहम्मि याण मधि करणंसि उप्पणंसि तथ्य अणिस्सितो वसितो अपक्ख गाही मझत्थ भाव भूते कहण साहमिया अप्पसद्दा अप्पझंझा अप्पतु मंतुमा उवसामण ताते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ८,

ठाणांग सूत्र स्थान ८ सू. ६४९ (समितिवाडा)

अर्थः—श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी प्रति पादन करते हैं कि हे आर्यो ! आठ स्थानों की प्राप्ति में योग कार्य करना चाहिये। प्राप्त कार्यों में उसके रखने के लिये यत्न करना चाहिये। शक्ति क्षय समय तक इनका पालन करना चाहिये। उत्साह पूर्वक इनमें पराक्रम करना चाहिये। अर्थात किसी प्रकार से इन स्थानों के पालने में प्रमाद न करना चाहिये जैसे कि:—

१ जिस श्रुत धर्म को पूर्व नहीं सुना है उसके सुनने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये।

२ सुने हुए श्रुत धर्म को विस्मृत न करना चाहिये।

३ पाप कर्म का सयम द्वारा निरोध करना चाहिये।

४ तपस्या द्वारा प्राचीन कर्मों की निर्जरा कर देनी चाहिये अर्थात आत्म विशुद्धि करनी चाहिये।

पाठ तेरहवाँ

प्रेम और परोपकार[1]

प्रेम का लक्षण है कि किसी भी तरह के स्वार्थ की इच्छा न कर, सब जीवों पर समान भाव रख उनकी मदद करना, उनकी भलाई करना और उन्हें परमार्थ की तरफ आगे बढ़ाना। जहां स्वार्थ के लिये मदद की जाती है वहां प्रेम नहीं होता है। प्रेम सदा निस्पृह भाव से ही होता है। उसमें बदले की आशा नहीं होती। जहां बदले की आशा है वहां प्रेम नहीं है। जिस पर हमने उपकार किया है वह हमारे उपकार को समझे, उसके लिये हमारा कृतज्ञ बने। यह भावना जहां हो वहां भी समझना चाहिये कि प्रेम दूषित है। प्रेम की भावना से जो उपकार किया जाता है उसके लिये उपकृत मनुष्य यदि उम्रभर कृतज्ञता प्रकट न करे तो भी उपकार कर्ता के मनमें किसी तरह का ख्याल नहीं आता। वह उपकृत मनुष्य को किसी के सामने कृतज्ञ नहीं बनाता। प्रेम में मत, जाति, मजहब, देश, विदेश आदि का भेद नहीं होता। प्रेमी सारे संसार के आदमियों को अपना भाई समझता है। शत्रु, मित्र भाव तो उसके हृदय में अभाव हो जाता है। प्रेमी एक परमात्मा ही की प्रार्थना करता है।

---

[1] [illegible]

सकते हो तो परोपकारी जीवों के साथ दुःखी जीवों का समागम अवश्यमेव कराओ। जिसमें देने की शक्ति है उसको वास्तविक मदद नहीं मिलती अतः उनको वह मिला देना भी परोपकार है। प्रत्येक मनुष्य को सबेरे उठते ही कुछ न कुछ परोपकार करने का नियम लेना चाहिये। ऐसा करने से परोपकार करने के अनेक मौके तुम्हें मिलेंगे। प्रति क्षण तुम्हारी वृत्ति परोपकार के अन्दर ही रहेगी। जो परोपकार करने में अपना जीवन बिताते हैं उन्हें महान पुरुषों के आशीर्वाद मिलते हैं। उनका हृदय निर्मल और निरभिमानी बनता है। वे उच्च पद पाने के योग्य होते हैं। सत्ता में छुपी हुई आत्मा की अनंत शक्तियां परोपकार करने से बाहिर आजाती हैं। आत्म शक्तियों के विकसित हो जाने पर मनुष्य दुनिया के उद्धारक महात्माओं की श्रेणी में आजाता है और उस समय परोपकार के बदले उसमें प्रेम के झरने झरने लगते हैं। वह प्रेमी बनता है और अपने वह परमात्मा के साथ एक का बन जानेवाली अपनी आत्म शक्तियां प्रकट करता है [illegible] मार्ग [illegible] है [illegible] परोपकारी और प्रेम-[illegible] है

क्रीडा ही है तथा शरीर का कांपना, अत्यंत परिश्रम [थकावट] मानना, पसीना वारम्बार आना, सिर में चक्कर आने, चित्त भ्रमण करते रहना' प्रत्येक कार्य के करते समय मन में ग्लानि उत्पन्न होजाना और अत्यंत निर्बल हो जाना इतनाही नहीं किंतु विना सहारे से बैठा भी न जाना, फिर क्षयादि रोगों का उत्पन्न होजाना यह सब मैथुन क्रीडा के ही फल हैं। अतएव तेज के घट जाने से कौनसा शारिरीक दोष है जो इसके सेवन से उत्पन्न नहीं हो सक्ता ?

जिनदासः—इसके अतिरिक्त क्या कोई और भी शरीर को हानि पहुंचती है ?

जिनदत्तः—प्रिय ! जब क्षयादि रोग उत्पन्न होगए तो फिर उनसे बढ़कर और क्या हानि होनी होगी ! क्योंकि जब शरीर का ही तेज घट गया तो फिर शेष रहा ही क्या ? तथा जब स्वाभाविक बल का नाश हो गया तो फिर उस व्यक्ति को कृत्रिम बल क्या बना सक्ता है ? क्योंकि जो पुरुषों पर स्वाभाविकता से सौंदर्य होता है वह सौंदर्य क्या वस्त्रों पर आसक्ता है ?

संसार में सबसे बढ़कर अधर्म कौनसा है ?

मैथुन क्रीडा.

चित्त को विभ्रम कौन उत्पन्न करता है ?

मैथुन क्रीडा.

बालकों की मुख की सौंदर्यता और चंचलता के नाश करने वाला कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

प्रत्येक प्राणी से वैर करने का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

कौनसा गुप्त पाप किया हुआ जनता में शीघ्र प्रकट होजाता है ?

मैथुन क्रीडा.

ब्रह्म में कौन नहीं मेल होने देता ?

मैथुन क्रीडा.

अनेक काम करता अनन्त में कौन डालता रहता है ?

मैथुन क्रीडा.

[illegible]

मैथुन क्रीडा के कारण से.

रामने सहस्त्र गति राजा को क्यों मारा ?

मैथुन क्रीडा के कारण से.

मनको विभ्रम में सदा कौन डालता है ?

मैथुन क्रीडा.

क्लेश का मुख्य कारण कौन है ?

मैथुन क्रीडा.

मित्रको शत्रु कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा.

उच्च पद से गिरा कर नीच पद में कौन स्थापन करता है ?

मैथुन क्रीडा.

लोक में निंदित कौन बनाता है ?

मैथुन क्रीडा.

[illegible] कौन [illegible] है ?

मैथुन क्रीडा

[illegible]

मैथुन क्रीडा न करने वाले को

[illegible]

मैथुन क्रीडा न करने वाला

अतएव हे मित्र ! कौनसा शारीरिक या मानसिक रोग है जो मैथुन क्रीडा से उत्पन्न नहीं होता ?

सो मैथुन क्रीडा को छोड़कर ब्रह्मचर्य के व्रत के आश्रित होकर अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहिये ।
क्योंकि इस नियम के आश्रित होकर सब प्रकार की सिद्धियां उत्पन्न हो सकती हैं.

जिस प्रकार सर्व प्रकार के वृक्षों में अशोकवृक्ष (कल्पवृक्ष) अपनी प्रधानता रखता है ठीक उसी प्रकार सर्व व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत अपनी प्रधानता रखता है ।

जिनदास:—ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष गुण कौन २ से हैं ?

जिनदत्त:—मित्र ! ब्रह्मचर्य में प्रत्यक्ष और परोक्ष अनेक गुण हैं ।

जिनदास:—मित्र ! अब इन गुणों का [illegible]

जिनदत्त:—[illegible]

जिनदास:—[illegible]

जिनदत्त:—[illegible]

अपने पवित्र ध्यान में जगत के स्वरूप का चिंतन करता रहता है। इतनाही नहीं किंतु उसकी आत्मा जिस प्रकार लवन की डली जलमें एक रूप होकर ठहर जाती है ठीक उसी प्रकार उस मुनि का आत्मा ध्यान में तल्लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान से हटकर केवल ध्येय में तल्लीन होजाता है। अतएव वह मुनि नौ नियमों से शुद्ध शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सक्ता है।

जिनदासः—भद्रे ! वे नौ नियम कौन से हैं जिन के द्वारा शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया जा सक्ता है ?

जिनदत्तः—प्रियवर्य ! उन नौ नियमों के नाम नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति भी कहा गया है क्योंकि उन नियमों से ब्रह्मचर्य भली प्रकार से सुरक्षित रह सक्ता है जैसे कि:—

नव बंभचेर गुत्ती ओ प. नं नो इत्थी पसु पंडग संसत्ताणि सिज्जा सणाणि सेविता भवइ !

इसका अर्थ यह है [illegible] शुद्ध ब्रह्मचर्य [illegible] प्रतिपादन [illegible] है जैसे कि —

ब्रह्मचारी पुरुष जिस स्थान पर स्त्री [illegible]
रहते हैं उस स्थान पर [illegible]

इस प्रकार हे मित्र वर्य्य ! यह ब्रह्मचर्य व्रत गुणों की खानि है। इसी में सर्व गुणों का अंतर्भाव होता है। जिस प्रकार सिर के बिना धड किसी काम का नहीं होता ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के बिना शेष नियम सिर के बिना धड के समान है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को इस महाव्रत का यथोक्त विधि से सेवन करना चाहिये।

परंतु स्मृति रहे कि यह व्रत दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि एक सर्व वृत्ति महात्माओं का और द्वितिय गृहस्थ लोगों का सो दोनों की व्याख्या निम्न प्रकारसे पढ़िये।

जिनदास:—प्रियवर ! जो आपने सर्व वृत्ति साधु-मुनिराज के ब्रह्मचर्य विषय का वर्णन किया है मैं कुछ उसका स्वरूप सुनना चाहता हूं।

जिनदत्त:—मित्रवर्य ! आप एक चित्त होकर उक्त विषय को सुनिये

जिनदास:—[illegible] ! [illegible] सुनाइये

जिनदत्त:—मित्रवर्य [illegible] साधु वृत्ति की बानी है सब [illegible] वृत्ति मन, वचन और काय [illegible] महाव्रत का पालन करता है—स्त्री [illegible] माता भगिनी, वा पुत्री [illegible] समझता है और सदैव [illegible]

होते हैं प्रायः उनका प्रभाव भी वैसा ही आत्मा पर पड़ता है। सो जब स्त्री की कथा में ही लगा रहेगा तब उसके ब्रह्मचर्य व्रत में अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न होते रहेंगे जिसका प्रभाव फिर उसके लिये अच्छा नहीं होगा। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री की कथा न करनी चाहिये और ब्रह्मचारिणी स्त्री को पुरुष की कथा न करनी चाहिये।

जिनदास:—मित्र! इसमें दोष ही क्या है?

जिनदत्त:—मेरे परम प्रिय मित्र! जिस प्रकार शत्रु का नाम सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है तथा मित्र का नाम सुनते ही स्नेह राग जाग उठता है या नींबू का नाम सुनते ही मुख में जल आ जाता है तथा खाने की बातें सुनते ही खाने की इच्छा बढ़ जाती है अथवा शृंगार के समय [illegible] की बातें सुनते [illegible] करता है ठीक इसी [illegible] पुरुष की कथा करने [illegible] ब्रह्मचर्य की [illegible] के लिये [illegible] पुरुष कथा न करनी चाहिये।

जिनदासः—मित्रवर ! क्या स्त्री पुरुष की कोई भी कथा न करनी चाहिये !

जिनदत्तः—प्रियवर ! सत्य और शील की दृढ़ता सिद्ध करने के लिये स्त्री वा पुरुष की बातें करना हानि नहीं करता किंतु जिससे मोहनीय कर्म का उदय हो जावे वह कथा ब्रह्मचारी को न करनी चाहिये ।

जिनदासः—मित्र ! मैं ठीक समझ गया । अब मुझे तीसरा नियम सुनाइये ।

जिनदत्तः—प्रिय ! ध्यान पूर्वक सुनिये । "नो इत्थीणं सेविचा भवइ २" स्त्रियों के समूह को सेवन करने वाला न होवे अर्थात् स्त्रियों के साथ बैठना और सदैव काल स्त्री वर्ग के अन्तर्गत ही रहना तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, फिर उसी स्थान पर जा बैठना इस प्रकार करने से स्मृति आदि दोषों के उत्पन्न होने से [illegible] [illegible] उत्पन्न हो जाती है । अतः ब्रह्मचारी [illegible] का सम्पर्क न करे ।

जिनदास—मित्र ! इस प्रकार करने से क्या दोष है ! क्योंकि उसका मन दृढ़ है ।

जिनदासः—सुहृदयवर्य । यह तो मैं समझ गया । अब मुझे ब्रम्हचर्य का पांचवा नियम सुनाइये ।

जिनदत्तः—सखे ! आप ध्यान पूर्वक सुनिये । "**नो पणीय रस भोई** ॥ ५ ॥ प्रणीत रस का भोजन न करे । अर्थात बल वर्द्धक और अत्यंत स्निग्ध रस के भोजन करने से मन में विकार उत्पन्न होने की संभावना की जा सकेगी । जिससे फिर अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने लग जायंगे । अतः प्रणीत भोजन कदापि न करना चाहिये ।

जिनदासः—सखे ! प्रणीत भोजन करने से क्या हानि होती है ? आप मुझे इसका दिग्दर्शन कराइये ।

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! जिस प्रकार घृत की आहुति से अग्नि प्रचंड हो उठती है ठीक उसी प्रकार प्रणीत भोजन करने से इंद्रिय और मन प्रनम्र हो जाता है जिससे फिर मन में नाना प्रकार के [illegible] उत्पन्न [illegible] फिर इस [illegible] जैसे [illegible] वस्त्र में [illegible] वह वस्त्र [illegible] जाता है [illegible] प्रकार [illegible] लगा हुआ [illegible]

जिनदासः—सखे ! जो बाल-ब्रह्मचारी हैं उनके लिये तो यह नियम कार्य साधक नहीं सिद्ध हुआ क्यों कि उनको तो किसी बात का पता ही नहीं है ।

जिनदत्तः—मित्रवर्य ! जो बाल ब्रह्मचारी हों वे पूर्वोक्त विषयों को सुनकर या किसी पुस्तक से पढ़कर फिर उस विषय की स्मृति न करें क्योंकि फिर उनको भी पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होने की संभावना की जा सकेगी । जिससे ब्रह्मचर्य व्रत में नाना प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होने लगेगी । अतएव विषयों की स्मृति न करनी चाहिये ।

जिनदासः—सखे ! इन नियमों को तो मैं ठीक समझ गया हूं किंतु अब आप मुझे आठवें नियम का विषय कहिये ।

जिनदत्तः—वयस्य ! प्रेम पूर्वक इस नियम को श्रवण कीजिये । "**नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुवाई नो गंधाणुवाई नो रसाणुवाई नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई**" ॥८॥ ब्रह्मचारी पुरुष शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श तथा श्लाघा इनमें मूर्छित न होवे । अर्थात् काम-जन्य शब्द, काम-जन्य रूप, काम-

जन्य गंध, काम-जन्य रस और काम-जन्य स्पर्श तथा काम-जन्य स्वरूपा इनमें मूर्छित कदापि न होवे, कारण कि जो अनभिज्ञ आत्माएँ पंचेंद्रियों के अर्थों विषय मूर्छित हो रहे हैं वे अकाल में ही मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कि:—मृग, पतंग, सर्प या भ्रमर, मत्स्य और हाथी, उक्त सब जीव यथा क्रम से पांचों इंद्रियों में से एक २ के वश होते ही अकाल में मृत्यु प्राप्त कर लेते हैं। फिर जो पांचों इंद्रियों के वश में हो जाता है उस मनुष्य की बात ही क्या कहना है ? इस लिये ब्रह्मचारी को उक्त पांचों विषयों से बचना चाहिये। तथा जिस प्रकार मेघ का शब्द सुनकर मयूर नाच करने लग जाता है ठीक उसी प्रकार काम-जन्य शब्दों के सुनने से ब्रह्मचारी का मन भी [illegible] हो जाता है अतएव काम-[illegible] न सुनना चाहिये

[illegible]दास:—[illegible] अब [illegible]

[illegible]दत्त—[illegible] नियम [illegible] सुनिये जो साया सांकत्र

स्त्री या पुरुषों की प्रतीति न होवे उनकी संगती कदापि न करे सो उसी का नाम शुद्धाचार है।

जिनदास:—वयस्य ! शुद्ध व्यवहार किस का नाम है ?

जिनदत्त:—मित्रवर्य ! शुद्ध व्यवहार उसी का नाम है जिस व्यवहार से अपने मन की पवित्रता बनी रहे। जैसे शुद्ध वेषादि।

जिनदास:—सुहृद्वर्य ! शुद्ध वेष कहने से आपका क्या मन्तव्य है ? आप इसका स्फुट रूप से वर्णन कीजिये।

जिनदत्त:—शुद्ध वेष में हमारा यह मन्तव्य है कि ब्रह्मचारी को सादे और स्वदेशी वेष की आवश्यकता है। कारण कि जब माता पिता अपने प्रिय बालकों का बाल्यावस्था में ही शृंगार करा सकते हैं तब वह अपने पुत्र के पवित्र जीवन पर [illegible] काम करने [illegible] [illegible] इसी प्रकार से [illegible] [illegible] ठीक इसी प्रकार [illegible] [illegible] विकार उत्पन्न [illegible]

जिस प्रकार एक सुंदर या पवित्र वस्त्र में कोयला बांधा हुआ हो तब उसको प्रत्येक व्यक्ति उठाना चाहता है और उसी प्रकार जिस का शरीर शृंगारित हो प्रायः उसको प्रत्येक कामी व्यक्ति काम दृष्टि से देखने लग जाता है।

अतएव सिद्ध हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति का सादा वेष होना चाहिये।

तथा जब कहीं पर जाना पड़े तब वस्त्र भारी हो और जिससे अंगोपांग पर किसी की दृष्टि न पड़ सके इस प्रकार के वस्त्र धारण करना चाहिये।

देखा जाता है कि देश में बहुधा कदाचार की प्रवृत्ति वेष द्वारा बढ़ गई है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि नूतन फैशन को छोड़कर सादे वेष के द्वारा अपने पवित्र शरीर को सुरक्षित रखते हुए जीवन व्यतीत करे।

जिनदास — क्या [illegible] इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा आत्मा [illegible] सकता है?

जिनदत्त — [illegible] इस [illegible] व्रत के द्वारा आत्मा [illegible] सकता है क्योंकि [illegible] [illegible] नरेन्द्र या उत्तम [illegible] तक है उनसे [illegible]

सब ब्रह्मचर्य व्रत ही है। इसलिये इस व्रत के धारण करने वाले देवों के भी पूज्य माने जाते हैं। जैसे कि:—"देव दाणव गंधव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति ते" अर्थात ब्रह्मचारी को देव, दानव, देव गंधर्व देव यक्ष और राक्षस तथा किन्नर देव इत्यादि सब ही नमस्कार करते हैं कारण कि इस व्रत का धारण करना शूर वीर आत्माओं का ही कर्तव्य है।

इसलिये हे मित्र! देश धर्म, या समाजोन्नति के लिये इस व्रत को अवश्यमेव धारण करना चाहिये। तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये इस ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर शुभ गति प्राप्त करनी चाहिये।

जिनदास — धन्य है आपका उपकार मानता हूं जो आपने मुझे इस व्रत का स्वरूप [illegible] में [illegible] श्री [illegible] [illegible] [illegible] करता हूं [illegible] [illegible] [illegible] ईश्वर [illegible] [illegible] है [illegible]

की पर्वाह न करता हुआ धर्म या समाज सेवा ही अब करता रहूंगा ।

तनदत्तः—सखे ! आपके पवित्र विचारों की मैं अपने पवित्र हृदय से अनुमोदना करता हूं और साथ ही श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी से प्रार्थना करता हूं कि वे अपनी पवित्र दया से आपकी की हुई प्रतिज्ञाएं निर्विघ्न समाप्त कराएं अर्थात् आपमें आत्मिक साहस उत्पन्न हो जावे कि जिससे आप अपनी की हुई प्रतिज्ञाएं निर्विघ्नता से और सुख पूर्वक पालन कर सकें ।